मिथिला अरिपन

(अरिपनों का तांत्रिक विश्लेषण)

(भाग-4)



कृष्ण कुमार कश्यप

मिथिला अरिपन

(अरिपनों का तान्त्रिक विश्लेषण)

भाग–4

रचनाकार :

कृष्ण कुमार कश्यप

प्रकाशक :

कला संजिवनी

लहेरिया सराय, दरभंगा, बिहार

संस्करण : जून, 2018
द्वितीय संस्करण नवम्बर, 2021

लेखकीय संपर्क : (मोबाइल) 99 31 66 59 39
e-mail : kashyapkk15@gmail.com

मूल्य : सात सौ रुपये मात्र

प्राप्ति–स्थान :
(1) कला संजिवनी, बरहेता, लहेरियासराय, दरभंगा
मो 9931665939
(2) भारती विकास मंच, बरहेता

मिथिला अरिपन

(अरिपनों का तान्त्रिक विश्लेशण)



कृष्ण कुमार कश्यप

भूमिका

अरिपन तो किसी न किसो रूप में भारत के प्रायः सभी कला–क्षेत्रों में उपलब्ध है, किंतु मिथिला की नारी–बुद्धि में तन्त्र, द ंन, साहित्य, ज्यामिति और कौ ाल के रूप में ज्ञान के जिस समुच्चय का द ंन उनके अरिपनों में होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन अरिपनों का सबसे बड़ा संरक्षित भंडार गुणी स्त्रियों के मस्तिष्क में है, जो समय–समय पर इसके किसी न किसी प्रारूप का विधिगत आरेखन करके भुभ अवसरों को चिरस्थायी बना देती हैं। यह हमारे समाज की विडंबना ही है कि इस अनोखे ज्ञान की अधिकारी महिलाएँ उस सम्मान से आज भी वंचित हैं जिसकी वे हकदार हैं।

मैंने मिथिला की परंपरागत कलाओं में ज्ञान और जीवन का विराट संसार देखा, और इसीको उनकी स ाक्तिकरण के एक औजार के रूप में विकसित करने का नि चय किया। भारती विकास मंच, बरहेता हमारे इस प्रण को साकार करने में पिछले पैंतीस वर्षों से संलग्न है। अरिपन के प्रारूपों का अध्यापन तो 1984 से ही प्रारंभ हो गया, किंतु इनका तात्विक वि लेषण करने में मैं लंबे समय तक अक्षम ही रहा। निरंतर अध्यवसाय से जो कुछ जानकारी जुटाकर पुस्तकाकार दिया तो इसक मुद्रण में काफी विलम्ब हो गया। मैं आ ा करता हूं कि यह पुस्तक शिल्पी और सुधीजन, दोनों के लिए उपयोगी होगी। भुभमस्तु!

श्रीमती ललिता देवी (खरौआ) के प्रति हम अपनी कृतज्ञता के साथ भुभकामना व्यक्त करते हैं, जिन्होंने भा ाबाला के निर्दे ान और उनके प्रारूपों के आलेखन में बहुत श्रम किया। इस पुस्तक के परिवर्द्धन में अनीता दास, संगीता और श्रोमती ि ावा क यप ने जो योगदान दिया है उसीके परिणाम स्वरूप पुस्तक आज प्रका ात हो पा रही है। सबों को अनेक धन्यवाद !

कृष्ण कुमार कश्यप

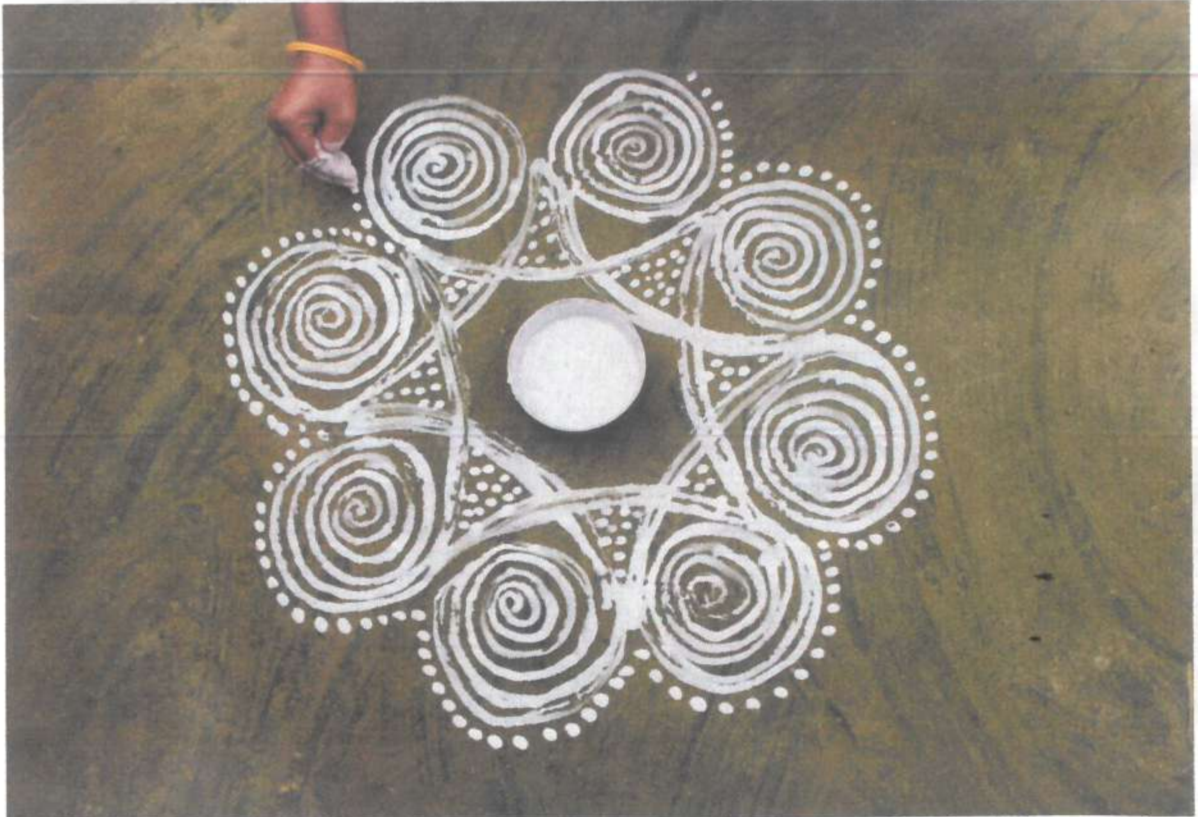


अलिपन देओब मोतिम हार, मंगल कलस करब कुच हार। (विद्यापति)

अरिपन की प्राचीनता

मिथिला संस्कृति में अरिपनों का विशिष्ट स्थान है। तन्त्र से उत्पन्न, शुभ अवसरों की सहचरी, **अरिपन** का आविर्भाव समस्त पारिवारिक समारोहों और व्रत–अनुष्ठानों से जुड़ा है। अरिपन–आरेखन की प्राचीनता के साक्ष्य तो लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व की सिन्धु घाटी–सभ्यता के पुरावशेषों, मुद्रा और तावीजों पर पूर्ण विकसित प्रतीकों के रूप में और मध्य भारत के शैल–चित्रों में प्राप्त होते हैं किन्तु मिथिला–कला के अरिपन पुरातन स्त्रियों के ब्रह्माण्डोत्पत्ति से सम्बंधित अवबोधन का एक जीवित दस्तावेज है, ज्यामितिक माध्यम स उस ज्ञान की अभिव्यक्ति का एक अवाचिक पद्धति है, एक साधारण बिन्दु से अपरिमित दैवी साम्राज्य तक की यात्रा का लौकिक पथ है; बिन्दु से जटिल ब्रह्माण्ड तक वृत्त, अर्धवृत्त, कुण्डली, कचनी, क्रॉस, त्रिभुज, चौकोण, षट्कोण, अष्टकोण और नक्षत्र, वृक्ष–लतादि, जलाशय, जीव–जन्तु तथा भिन्न–भिन्न संख्यावाले कमल–दलों से निर्मित एक संसार–रचना का वाह्य मानस–दर्शन है। सार्वजनिक कल्याण की विशुद्ध कामना की अभिव्यक्ति के रूप में, सर्वव्यापी देव–देवी को अर्पित कोमल मनोभावों की चित्रलिपि, आद्यकालीन लेखार्पण की पद्धति में, अरिपन को **लिखिया**, लिखने की कला कहा जाता है।

वे सभी स्त्रियाँ हैं, मिथिला की स्त्रियाँ, जा प्राचीन स्मृति की तान्त्रिक ज्ञान–परंपराओं का अंकन करती हैं, पुराकालिक संस्कृति की पाठ–पोथी रचती हैं, जिसके सम्मोहन में बँध कर क्षितिजवासी देवता भी पृथ्वी की ओर आविष्ट होते हैं और मानवीय अन्तस्तत्व से उपजे अपना एक रूप ग्रहण करते हैं। भक्तिमय धार्मिक समर्पण से आवेशित मन में गीत, मन्त्र, कथा और ज्यामितिक आकारों के अघ के साथ उँगलियों की टुरनी पर प्राणदायी चावल के श्वेत रस, 'पिठार' के साथ जब वह शिल्पी बन कर अपनी चार उँगलियों के कमलदल–कोश, दैहिक लेखनी को लिपी–पुती चिकनी भूमि पर रखती हैं तो स्वतः एक देवता के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं; एक साथ ही देवता और पुजारी बन जाती हैं। मैथिलानी स्त्रियाँ मानती हैं कि ऐसा ही अर्पण, सम्पूर्ण भावमय समर्पण, चित्ररूप में "**अरिपन**" कहा जाता है।



मिथिला में आलेखन की इस कला को **अरिपन, बंगाल में** अल्पना, उड़ीसा में **ओसो**, उत्तर प्रदेश में **चौक**, राजस्थान में **मेंहदी मण्डना**, गुजरात में **सठिया**, महाराष्ट्र में **रंगोली** और तमिल नाडु में **कोलम** कहा

जाता है। आश्चर्यजनक रूप से, आरेखन की इस क्रिया को हर जगह शुद्धतः 'लेखन' के रूप में लिया जाता है, चित्रांकन के रूप में नहीं। सम्भवतः, लिखिया का यह अवबोध अरिपन के पुराकालीन चित्रलिपि से उद्गम को दर्शाता है। गृह्यसूत्र और मनुस्मृति, जो संस्कारों की धार्मिक विधि और व्रत–पद्धति का विधान करते हैं, और जिसका अनुपालन प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए अनिवार्य है, गर्भावस्था और जन्म, विद्यारम्भ, यज्ञोपवित अथवा विवाह से सम्बंधित अनुष्ठानादि में स्त्रियों के द्वारा पृथ्वी की पूजा और सज्जा के लिए गृहपूजा–मण्डल लिखने का विधान करते हैं। ब्रह्माण्ड पुराण भी किसी यज्ञ या संस्कार, विवाहादि के अवसर पर सभी तरह के अशुभ या अनिष्टकारी विघ्न का नाश करने के लिए 'भूमिशोभा' द्वारा पृथ्वी की आराधना और सज्जा करने का निरूपण करता है। चण्डेश्वर ने अपने 'कृत्यरत्नाकर' में अरिपन हेतु 'भूमिशोभा' और 'मण्डल' दोनों नामों का प्रयोग किया, जबकि रुद्रधर कुलदेवता की स्थापना और पूजा–विधि का वर्णन करते हुए, आलेपन और मण्डल लिखने का निर्देश करते हैं। श्रीहर्ष ने भी अपने 'नैषधीय चरित' में अरिपन को आलेपन कह कर परिभाषित किया है। इसकी टीका में नारायण ने अरिपन का उल्लेख करते हुए "आलेपनम् —— पिष्टोदकम् (पिठार) —— अइपन, इति लोके प्रसिद्धम्" कहा है।

मिथिला के महान कवि विद्यापति ने अपने मधुर गीतों में, श्रीकृष्ण के विरह से आकुल राधा के माध्यम से व्यक्त किया है कि वसन्त काल मे जब श्रीहरि पुनः घर लौटेंगे तब वह **'अलिपन'** की लिखिया करेगी। वसन्त का आगमन होते ही सभी गाछ–वृक्ष, समस्त वनांचल, नवीन पत्तों से लाल हो जाता है। राधा कल्पना करती है कि किसलय–परिधान में वेष्ठित वन वस्तुतः कृष्ण के ध्वज हैं, विरह के शीतकाल पर उनकी विजय के पताका हैं। ऐसे सुखद समय में चन्द्रमा भी अपनी धवल चाँदनी से घर की सभी दीबारों का (चूना से) पुचारा कर देगा। वह कामना करती है, कृष्ण के गोकुल आगमन पर, वाद्य–यन्त्रादि के जयघोष से नगर के सभी घर मुखरित हो उठेंगे, वह स्वयं धवल मोती की माला से 'अलिपन' देगी और हर्षातिरेक से उसका वक्ष मंगल–कलश का आकार ग्रहण करेगा – "लता तरुअर मंडप जीति, निरमल ससधर धवलय भीति। हरि जब आओब गोकुलपुर, घरे घरे नगर बाजय जयतूर। अलिपन देओब मोतिमहार, मंगल कलस करब कुचहार।।"

विद्यापति के पदों में 'अलिपन' शब्द का प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि 14वीं–15वीं शताब्दी में, अथवा उससे कुछ पूर्व ही, संस्कृत का आलिम्पन शब्द रूपान्तरित हो कर अलिपन या अरिपन हो गया होगा, और इसकी लिखिया उत्सवों के शुभ अवसर पर, ऋतु–परिवर्तन होने पर या प्रिय जनों के स्वागत के लिए होता रहा होगा।

अरिपन या मण्डल, अर्थात एक गोला अथवा वृत्त, प्रतीकरूप में अन्तरिक्षीय शक्ति की अखण्डता का मानस–दर्शन कराता ह। चाहे पृथ्वी पर, भित्ति पर, कागज पर, कपड़ा पर या किसी धातु पर आरेखित किया जाय, रहस्यमय शक्तियों का प्रतीक, मण्डल या अरिपन संकेन्द्रित, अवाचिक अर्थ को बतानेवाला मनुष्य का प्राचीनतम प्रयास था। मण्डल का जन्म मनुष्य के ब्रह्माण्ड से सम्बंधित अवबोधन और जन्म, मृत्यु, अस्तित्व की अतिसूक्ष्म जादूई प्रक्रिया से हुआ, जिसे मात्र ज्यामिति और गणितीय रूप के अमूर्तन के माध्यम से समझाया जा सकता था।

मिथिला के अरिपन अब मात्र घर–आँगन या उसकी वीथियों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विश्व–कला के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। इस लेखकद्वय ने इटलो और फ्रान्स देशों के अनेक शहरों में अरिपन के कार्यशालाओं का आयोजन कई बार किया जिसमें यूरोप के कई देशों के लागों ने भाग लिया और अपने जीवन में उसे उतारा।

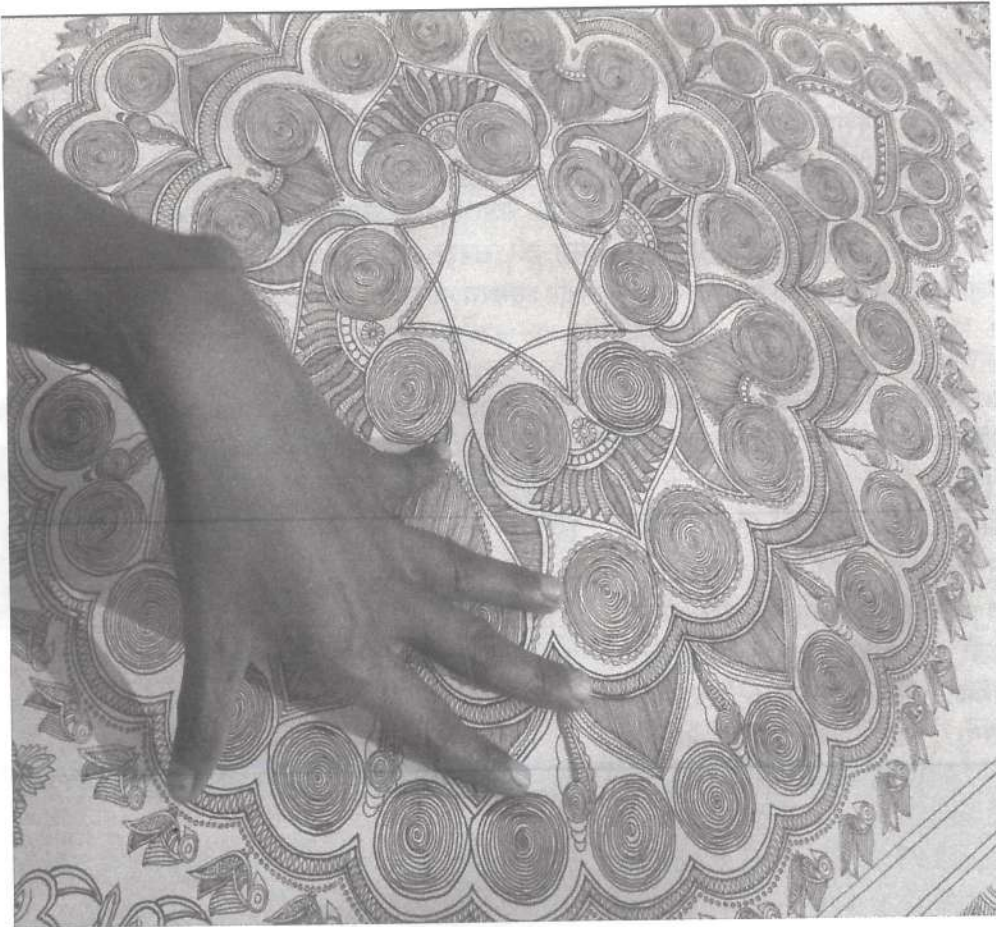
'अरिपन' शब्द का विकास आलेपन, अलिपन अथवा आलिम्पन से हुआ है। आलेपन को चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत एक कला माना गया है जिसे आधुनिक समय में हम चित्रकला अथवा लोककला कोटि में रखते हैं। प्राचीन साहित्यों में जिस सर्वतोभद्र, स्वस्तिक, षोडसदल, अष्टदल आदि के उल्लेख हुए हैं, वे सभी इसीके प्रभेद हैं।

प्राचीन धार्मिक साहित्य और कर्मकाण्ड–संहिताओ में सर्वतोभद्र और स्वस्तिक मण्डल के सम्बंध में प्रमुखता से उल्लेख हुए हैं। सर्वतोभद्र कुमारी देवी और उदीयमान सूर्य का सर्वोच्च प्रतीक है। इन दोनों सर्वोच्च शक्तिरूपों की अभिव्यक्ति सभी तरह के मण्डल और व्रत–चित्रलिपियों के अंगभूत हैं। देवी चक्ररूपा है, वृत्त क रूप में, और मण्डल शब्द ही सूर्य का समानार्थी है, जीवनदायी खगोलीय गोला। सर्वाधिक प्राचीन और शक्तिशाली मण्डलों में एक सर्वतोभद्र है। सभी मण्डलों और यन्त्रों के स्रोत के रूप में सम्मानित, यह देवी की शक्ति की और उदीयमान सूर्य की विस्फोटी शक्ति का प्रतीक ह जिसे अमूर्त रूप से प्रदर्शित किया गया है। सर्वोच्च सामर्थ्य का प्रतिमान, सर्वतोभद्र मण्डल एक–दूसरे से जुड़े 42 स्वस्तिक या क्रॉस से बना है। आरेख की मुख्य भुजाएँ चारों दिशाओं को घेरती हैं; इस आरेख को उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी –– सभी क्षेत्रों में मगलकारी कहा गया है।

सर्वतोभद्र मण्डल के विकास की बहुत प्रारम्भिक प्रस्तुति मध्य प्रदेश की पंचमढ़ी, बरी–बेरी स्थान पर, दो शैल–चित्रों के बीच खोजी गयी है। यह प्रारम्भिक चित्र गाढ़े गेरू लाल से बना है। आरेख की सभी भुजाएँ कुछ त्रिकोण से, श्रीयन्त्र के आकार में, शक्ति–त्रिकोणों से बनाए गए हैं। आरेख की पवित्रता दर्शाने के लिए इसमें जादूई पुट दिया गया है जो आरेख को घेर कर खड़ी आकृतियों की भंगिमा से स्पष्ट होता है। लम्बी कायावाली मानवीय आकृतियाँ ऊँची, पंखदार पगड़ी लगाए, हाथ उठा कर नाच रही हैं। उसी तरह की सिर–सज्जावाली एक अन्य आकृति हाथ ऊपर उठाए, विस्मय से सभी कुछ देख रही है। मण्डल–आरेख के ऊपरी भाग में एक आदमी हाथ में लाठी लिए दौड़ रहा है और उसके पीछे एक मुर्गा और तीन अन्य पशु दौड़ रहे हैं। उसके सम्मुख छः अन्य अस्पष्ट आकृतियाँ भी हैं जो उस रहस्यमय आकार को घेरती हैं और किसी स्तम्भ की तरह लगती हैं।

गौतमीय तन्त्र में 'सर्वतोभद्र' यन्त्र का सविस्तार उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में वणन है कि यह यन्त्र दृष्ट एवं अदृष्ट तथा वर्तमान एवं अनागत सभी प्रकार के फल का प्रदाता है। सर्वतोभद्र का अर्थ होता है सभी दिशाओ से समचौरस। भगवान विष्णु के रथ का नाम भी सर्वतोभद्र है। हिन्दू धर्म–ग्रन्थों में इस यन्त्र के रहस्य पर प्रकाश देते हुए कहा गया है कि व्यावहारिक जीवन में इस यन्त्र के दो उपयोगी भाव हैं – अर्जन एवं व्यय, क्रियाशीलता एवं विश्राम तथा संग्रह एवं त्याग – इन सभी व्यवहारों में जीवन संतुलित रहना चाहिए। हर तरह से परीक्षा करने के बाद भी जिसका आन्तरिक एवं वाह्य जीवन एक समान समतुल्य रहता है, वह व्यक्ति संसार में हर प्रकार से सुखी रहता है और सफलता प्राप्त करता है। जिसके जीवन का रथ हर तरह से अच्छी हालत में रहता है और जो उस जीवन–रथ पर दृढ़ता के साथ आरूढ रहता है, वह सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त रहता है और उसके जीवन के सभी प्रयत्न सफल होते हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन निर्बाध, समान रूप से हर तरफ समचौरस होता है। जो कोई व्यक्ति सर्वतोभद्र यन्त्र को इस प्रकार से समझ कर आचरण करता है वह स्वस्थ, सुभग, दृढ एवं सफल होता है।

अरिपन की लिखिया मुख्यतः गोबर–माटी से लिपी पवित्र भूमि पर की जाती है, किन्तु भित्ति, कागज और कपड़े पर भी इसके आलेखन का विधान है। भूमि पर आलेखन करने के लिए अरवा चावल को छः–सात घंटे पानी में रख कर फुलाया जाता है। जल में रखा चावल जब अच्छी तरह से फूल कर मुलायम हो जाता है तब उसे पत्थर के सिल–बट्टे पर महीन पिसा जाता है। महीन पिसे चावल की लोई को जब पानी में मिला कर श्वेत रंग तैयार किया जाता है तब उसे **'पिठार'** कहते हैं। अरिपन की शिल्पी महिलाएँ अपनी चार उँगलियों क कोश में पिठार को इस प्रकार उठाती हैं कि उसमें से रंग टपक कर भूमि पर नहीं गिरे। अब प्रारम्भ होता है अरिपन का आलेखन। कोई शिल्पी एक साथ दो उँगलियों से आलेखन करती है जबकि कोई मात्र एक उँगली की नोक से आलेखन करती ह। अरिपन के आलेखन में अभ्यास से दक्षता आती है।



मिथिला में अरिपन की लिखिया कब प्रचलन में आयी इसका कोई ठोस प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु बाल्मीकि–रचित **'रामायण'** के बाल–काण्ड में उल्लेख है कि अयोध्या के राजकुमार श्रीराम के संग मिथिला की राजकुमारी सीताजी क विवाह के अवसर पर, विशाल मण्डप क मध्य में, ऋषि वशिष्ठ ने शास्त्र–सम्मत विधि से वेदी तैयार किया और उस वेदी के चारों ओर चन्दन–लेप, स्वर्ण–पत्रिका और अंकुरित अन्न के चित्रित पात्रों से सज्जा करवाए – ''स्वर्ण पालिकाभिश्च चित्रकुम्भैश्च सांकुरैः।'' इस उल्लेख से यह ता प्रमाणित होता है कि उस युग में मृणपात्रों पर चित्रांकन होता था, किन्तु इतने से अरिपन की विधिगत लिखिया प्रमाणित नहीं होती है।

मिथिला में चित्र–सज्जित भवनों का उल्लेख तुलसीदास ने **''रामचरितमानस''** में किया है। ऋषि विश्वामित्र के साथ पहली बार जब श्रीराम और लक्ष्मण मिथिला देश की सीमा में प्रविष्ट हुए, उस समय के नगर की शोभा का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि मिथिला के सभी घर मंगलमय और चित्रमय हैं। लगता है जैसे स्वयं कामदेव ने चित्रों का आलेखन किया हो; किन्तु भक्त–कवि के इस उद्‌गार को प्रागैतिहासिक या पाचीन मिथिला का साक्ष्य मानना कठिन लगता है –– ''मंगलमय मंदिर सब केरें। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें।।''

अरिपन–लेखन की परम्परा कितनी प्राचीन है इसके अनुसंधान में लगे शोधार्थियों का बड़ा समूह यह मानता है कि इससे सम्बंधित सबसे प्राचीन साक्ष्य सिन्धु घाटी–संस्कृति में प्राप्त होते हैं। पुरातत्ववेत्ता और इतिहासकार सिन्धु घाटी–सभ्यता के रूप में विश्व इतिहास को एक महान अवदान के लिए भारत की बहुत प्रशंसा करते हैं। यह संस्कृति, लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व, सिन्धु नदी (वर्त्तमान पाकिस्तान) और हड़प्पा (पंजाब) की ऊर्वर भूमि में विकसित हुई थी, और इसीलिए इसे सिन्धु घाटी या हड़प्पा की संस्कृति कहा जाता है। सुदीर्घ चहारदीवारी के भीतर सुरक्षित उस सभ्यता का प्रसार सिन्ध में मोहेनजो–दारो स लेकर पंजाब (भारत) के रोपड़, राजस्थान के कालीबंगन, गुजरात के लोथल और सुदूर पश्चिम के क्षेत्र तक था। मिश्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता के समकालीन, सिन्धु घाटी–सभ्यता को मानव–सभ्यता के इतिहास में तीसरी महान सभ्यता माना जाता है। इसके पुरातात्विक उत्खननों से एक अति प्राचीन और परिपक्व बिम्बविधान तथा प्रतीक शब्दावली का

उद्घाटन होता है जिसका उपयाग तत्कालीन कला और सामाजिक–धार्मिक कर्मकाण्डों में होता था, और जिसका प्रत्यक्षीकरण विशाल संख्या में प्राप्त मुद्रा–तावीज, माटी, चिनिञा माटी की पट्टिका तथा धातु और अर्द्ध–मूल्यवान पत्थरों पर उत्कीर्ण अजस्र लघुचित्रों से होता है। ये नक्कासी उन कलाकारों के सधे हाथ के नियन्त्रण, उतने छोटे स्थान में उत्कीर्ण चित्रलख की रेखाओं की स्पष्टता, मात्रा और रूप का सन्तुलन और विषय की एकाग्रता के प्रमाण हैं। सिन्धु घाटी–कला की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि यह अब तक की हिन्दू कला–परम्परा, धार्मिक अनुष्ठान, तन्त्र और समस्त अरिपन–लेखन में अपने मूल स्वरूप को दुहराती रही है।

सिन्धु घाटी–संस्कृति के एक स्थल, गुजरात के लोथल से प्राप्त चित्रित पात्र का विश्लेषण करने पर लगता है जैसे मिथिला शैली के चित्र का दर्शन कर रहे हों। इस चित्र में प्रयुक्त दो या तीन तरह की झिटकी, ठढ़ कचनी, तिरछो कचनी, कोश, पीपल के पत्ते, वृत्त के भीतर तिरछी कचनी युक्त चरपतिया, साँकर और प्रभामय सबिन्दु वृत्त के प्रयोग से अनुमान होता है कि आज के मिथिला चित्र में प्रयुक्त चिन्हादि का मूलस्रोत सिन्धु घाटी की कला में था। मिथिला–कला में सिन्धु–कला के प्रतीकों, जैसे हाथी, सिंह, माछ, साँप, स्वस्तिक, कमलदल, मयूर, योनि आदि के प्रयोग इस अनुमान को बल प्रदान करते हैं। सामग्री और तकनीकी प्रवीणता ने सिन्धु घाटी के शिल्पियों को चित्र और मूर्ति बनाने और उससे कहानी व्यक्त करने की शक्ति प्रदान की। इस तरह की वर्णनात्मक कला का सिन्धु घाटी कला में प्रचुर प्रदर्शन हुआ है। अब तक अपठनीय उनकी चित्रलिपि दृश्य–कथन की तरह परिबद्ध स्थान में प्रकट होती है। लिपि का उपयोग किसी सचित्र पुस्तक की तरह हुआ है। कभी–कभी लिपि को चित्र के ऊपर रखा गया है तो कभी यह कथन–क्षेत्र का विभाजन करती है और चित्र के बीच घेरा बनाती है। यह लिपि सदैव दृश्यरूप में चित्रलेख से सम्बंधित हैं।



सिन्धु घाटी के लोगों का ज्यामितिक ज्ञान और अमूर्त रूप की धार्मिक प्रकृति, जो आगे चल कर मण्डल या अरिपन के रूप में विकसित हुई, स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। ये सभी तावीज और मुद्रा में वृत्त, श्रीचक्र, अष्टदल, दोहरी कुण्डली, स्वस्तिक और यूनानी क्रॉस के रूप में प्रकट होते हैं। हड़प्पा संस्कृति की समस्त मुद्राओं में सर्वाधिक ज्ञात और प्रसिद्ध भैंसे की सींग लगायी आकृति है जिसे शिव महादेव के प्राचीनतम निरूपण के रूप में, उसक पशुपति रूप में पहचाना गया है। अथर्ववेद में सहस्र नेत्रवाले रुद्र को सम्बोधित एक श्लोक में, उसे वन्य जीवों, हिंस्र पशु, पक्षो और घरेलू पशुओं का जिम्मा दिया गया है। पुराणों में रुद्र और भैरव के रूप में शिव की तथा अनेक रूपोंवाली देवी की आराधना के लिए मण्डल विद्यमान हैं। श्रीचक्र के भीतर देवी गौरी का मन्त्र, **ओउम् ह्रीं,** (गौरी को प्रणाम) लिखा, रहस्यमय, षड्भुजी आरेख, जिसके भीतर तीन कमलदलवाला एक त्रिकोण स्थापित है, लैंगिक मिलन का प्रतीक था। काम–क्रिया के क्षण में इस मन्त्र का उच्चारण करनेवाला प्रेमी (कामी) काममोहित, आत्मविभोर हो जाता था और उसका हृदय सौन्दर्य, कामुकता और काव्यमय आनन्द से भर उठता था। शिव का आधा–नर और आधा–स्त्रोवाला रूप, अर्धनारीश्वर, शिव और गौरी के शाश्वत मिलन की अभिव्यक्ति माना जाता था।

लोक–शब्दावली में, यन्त्र और मण्डल या अरिपन के रूप में सामान्य अमूर्तन का उद्‌गम बहुत प्राचीन है। मध्य प्रदेश के सिद्धी जिले में, पूर्वपाषाण–युगीन एक मन्दिर की खोज हुई, कुछ दशक पूर्व। खोजी पुरातत्वविदों के एक समूह को उस जगह पर बलुआ पत्थर का एक चबूतरा मिला। चबूतरा के मध्य में प्राकृतिक, लौहमय पत्थर के टुकड़े थे जिन पर हल्का पीताभ लाल और भूरे रंग की त्रिभुजाकार परत चढ़ी हुई थी। पत्थर के कुछ अतिरिक्त टुकड़े इधर–उधर बिखड़े पड़े थे। उन टुकड़ों को जब सावधानी से जोड़ा गया तो एक त्रिभुजाकार आकार बना। पुरातत्वविदों को विश्वास है कि मूल त्रिभुजाकार पत्थर उस वृत्ताकार चबूतरे के बीच मे रहा होगा। यह पूर्वपाषाण–युगीन प्राप्ति अनुमानतः दस हजार से आठ हजार वर्ष ईसा पूर्व की है। ये प्राप्तियाँ निश्चित रूप से देवी माता के प्राचीन मन्दिर का प्रतिनिधित्व करती हैं और देवी–पूजा के प्रारम्भिक काल के विनिर्धारण के साथ ही उसके ज्यामितिक अमूर्तन के साथ जड़ाव की चरम अर्थवत्ता प्रदर्शित करती हैं। देवी की सप्राण उपस्थिति और उसके प्रकटीकरण का आडम्बरहीन अमूर्तन का यह सिलसिला देश भर के अधिकांश पवित्र शक्ति–पीठों में चलता रहा। आसाम के कामरूप में देवी परम–योनि के रूप में पूजित है। गुजरात के देवी–धाम, बहुचर मे, वह बाला–त्रिपुरा के रूप में पूजित है; एक त्रिभुज, जिसके भोतर में तीन वृत्त प्रतिष्ठापित थे; कुमारी माता, अम्बा के मन्दिर मे, एक त्रिभुज जो देवी के बीजाक्षर को घेरे हुए है; देवी बिसो यन्त्र के रूप में पूजित है।

एक त्रिभुज के रूप में देवी इस ब्रह्माण्ड का बीज मानी गयी है। शिव का चिन्ह o|o था; दो डिम्ब के मध्य हल के फाल की तरह। यह प्रतीक लैंगिक प्रेम के देवता काम का चिन्ह भी था। इस चिन्ह को ''दो बिन्दुओं के मध्य एक छड़, किसी रत्न की तरह देदीप्यमान'' कहा गया है। बिन्दु पुरुष–वाचक और स्त्रो–वाचक दोनों था। यह सृजन का सिद्धान्त और विश्व का स्रोत था। श्वेत बिन्दु को परुष–वाचक और लाल बिन्दु को स्त्रो–वाचक कहा गया है। श्वेत और लाल बिन्दु जब एक–दूसरे पर चढ़ा कर लिखा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि श्वेत बिन्दु लाल बिन्दु में प्रवेश करना चाहता है। इस क्रिया को विसर्ग या उत्सर्जन कहा जाता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि मिथिला में अरिपनों के आलेखन के बाद नियत स्थानों पर सिन्दूर के बिंदु लगाना अनिवार्य माना गया है। इसे शुभत्व की स्थापना कहा गया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मिथिला जीवन–दर्शन में स्त्री–पुरुष के संयोग को पुरुष–प्रकृति के संयोग के रूप में देखा जाता है, जो धर्म की स्थापना का यज्ञ है।



सिन्धु घाटी–स्थलों और भारत की गुफा–कलाओं में वृत्त, दोहरी कुण्डली, क्रॉस, चौक, त्रिभुज, स्वस्तिक और गणितीय अंकों के सम्मिश्रण से बने रहस्यमय आरेखों की उपस्थिति से चित्रलिपि और साधारण ज्यामितिक आकार के रूप में स्त्रो–दैवत्व की पूजा की एक प्राचीन पद्धति सिद्ध होती है। चित्रात्मक अमूर्तन के संग पवित्र स्त्रो–सिद्धान्त की साझेदारी भारतीय अवचेतन में इतने गहरे अंतःस्थापित हैं कि देवी के मानवीकृत रूप किसी तरह भी आरेख का स्थान नहीं ले पाते हैं, बल्कि कितनी ही शताब्दिया से उसके साथ ही अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। तान्त्रिक साहित्यों में पुराकालीन और परंपरागत जादूई सूत्रों को संहिताबद्ध किया गया है और कुमारी माता के आद्य रूप का वर्णन किया गया है। देवी भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न रूप धारण करती है; सृष्टि के संरक्षण के लिए वह सीधी रेखा। का रूप, तो सृष्टि के विलोपन के लिए एक o बिन्दु का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार, सृजन के लिए देवी त्रिभुज का देदीप्यमान रूप धारण करती है।

सिन्धु घाटी की लिपि तत्कालीन समाज के कला–प्रतीकों, अक्षर और ज्यामितिक आरेखों के सम्मिश्रण स बनी है जो आगे चल कर लोक–शब्दावली में यन्त्र, मण्डल और अरिपन के रूप में विकसित हुए। बहुत प्रयास के बाद भी लिपि–वैज्ञानिकों और पुरातत्वविदों को उस लिपि को पठनीय बनाने में अभी तक सफलता नहीं मिली है। वस्तुतः जिस प्रचलित विधि से उस लिपि के रहस्योद्‌घाटन का प्रयास किया जाता रहा है, उसमें कला–प्रतीकों की भाषा को सम्मिलित करने की प्रवृति नहीं रही है। सिन्धु–लिपि का पाठ उसके कला–प्रतीकों और ज्यामितिक चिन्हों के दार्शनिक अर्थ के साथ जोड़ते हुए यदि उसका कूटानुवाद किया जाय तो सफलता की सम्भावना बढ़ सकती है। यदि सिन्धु–लिपि पठनीय हो जाय तो कई रहस्यमय विद्या जैसे तन्त्र, कायान्तरण के लिए प्रयुक्त रस–विज्ञान या किमियागिरी (alchemy) और प्रकृति के साथ आदिकालीन मानव–समाज के तादात्म्य के रहस्य उद्‌घाटित हो सकते हैं। सिन्धु घाटी के बाद के युग में भी तन्त्र का उपयोग कायान्तरण के लिए किया जाता था। यहाँ अध्ययन की दृष्टि से रसविज्ञान या किमियागिरी अथवा alchemy पर प्रकाश देना आवश्यक है, जिससे उत्परिवर्त्तन क्रिया संपादित होती थी।

कायान्तरण का अर्थ होता है काया बदलना, शरीर का चोला बदल कर दूसरे जीव की काया धारण करना; जैसे कि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से गाछ का रूप धर ले अथवा किसी मनुष्य को बाघ बना दिया जाय या बाघ को मनुष्य बना दिया जाय। पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से अनुमान होता है कि सिन्धु घाटी के लोग कायान्तरण के लिए ज्यामितिक आलेखन या अरिपन बनाते थे। दन्तकथा में उल्लेख आता है कि कामरूप (आसाम) के कामाख्या मन्दिर की तान्त्रिक स्त्रियाँ सुन्दर पुरुष को दिन के समय भेड़–बकरा बना कर रखती थी और शाम होते ही उसे फिर से मनुष्य बना देती थी। लोककथाओं में इस तरह के और भी उदाहरण मिलते हैं। तन्त्र साहित्य में इस विद्या को मतोत्तर मत कहा जाता है। कायान्तरण के इस अभिचार में तान्त्रिक सिद्ध लोग यन्त्र, मण्डल या अरिपन, मन्त्र और अग्नि के साथ विशेष क्रिया करते थे। छठी शताब्दी की गुप्तलिपि में लिखित तन्त्र–साहित्य की पाण्डुलिपि 'कुब्जिका तन्त्र', जो रसायन विज्ञान के परिष्कृत ज्ञान का रहस्योद्घाटन करता है, कायान्तरण के प्रमुखतत्व पारा को शिव का जनन–सत्व कहा है – "चुँकि इस सत्व का उपयोग मेरे श्रेष्ठ उपासक परम पद की प्राप्ति के लिए करते हैं, इसलिए इसे पारद कहा गया है। मेरे अंग से उत्पन्न होने के कारण, हे देवि, यह मेरे ही बराबर है। इसे रस कहा गया है, क्योंकि यह मेरे शरीर का स्राव है।" शिव का वीर्य पारा और देवी के अण्डाणु को अभ्रक कहा गया है; इन दोनों के मिलन से आधार धातु स्वर्ण में रूपान्तरित होता था और मानवीय शरीर को अमरत्व प्रदान करता था।

भारत के पड़ोसी देश चीन में किमियागिरी अथवा अलकेमी के प्रसार का श्रेय ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के लाओत्जू को जाता है, किन्तु सम्भवतः तन्त्रविद्या वहाँ और बहुत पहले से प्रयोग में था। चायनीज अलकेमी के प्रयोगकर्त्ता मूलतः वहाँ के तत्कालीन प्रमुख धर्म, ताओवाद के अनुयायी थे। लाओत्जू के अभिलेख में 'दीर्घजीवन' के उल्लेख से ताओवादियों को दीर्घ जीवन प्रदान करनेवाला पारसमणि और यौन–रहस्यवाद के उल्लेख से यौनांग को अक्षय बल प्रदान करनेवाला रसायन, अमृत की खोज करने की प्रेरणा मिली। लाओत्जू के लेख में चर्चित 'श्वासधारण' शब्दावली से ताओवादी लोग योगविधि से श्वास–नियन्त्रण की एक पद्धति का विवर्द्धन करने हेतु प्रोत्साहित हुए, और 'शान्तिमय शिशु' शब्द इस विचार को बल दिया कि कोई व्यक्ति अप ही द्वारा, अपने शरीर में, एक तरह का भ्रूण–बीज उत्पन्न कर सकता है जिससे शरीर को अमरत्व की प्राप्ति ह सकती है। इसके साथ ही, ताओवादियों ने इस विचार को अंगीकार किया कि इस ब्रह्माण्ड के मूल में मौलिक सिद्धान्त हैं –– यांग (yang) का सहज बल, और समान रूप से महत्वपूर्ण, यिन (yin) का निष्क्रि बल। इस संसार की सभी वस्तुएँ यांग और यिन के भिन्न–भिन्न अनुपात से बनी हैं। यह विश्वास किया ग कि पुरुष में यांग का अनुपात अधिक रहता है जबकि स्त्री में यिन की मात्रा अधिक रहती है; साथ ही, स सम्भोग द्वारा दोनों बल के बीच सुसंयोग स्थापित किया जाता है। ताओवादियों को यह अभ्यान्तरिक किमियाि तान्त्रिक कायान्तरण से घनिष्ठ सम्बंध रखता है।

पश्चिमी जगत में किमियागिरी का प्रयोग मध्यकालीन युग में प्रारम्भ हुआ। वे पारस प (philospher's stone) की खोज में थे जो आधार वस्तु को उससे स्पर्श कराने पर सोना में परिवर्त्तित देता था। इस खोज में उन्होंने बहुत तरह के रासायनिक प्रयोग किए। बीसवीं शदी में भी कुछ पि किमियागर इस खोज में थे जिनका लक्ष्य सोना के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक आनन्द की तलाश था। उन ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस क्रिया को अलकेमी या किमियागिरी नाम दिया।

किमियागिरी और तन्त्र में अभिरुचि ने धातु–विज्ञान की अनेक खोजों को प्रेरित किया। यन्त्र या की खोज किमियागिरी में उपयोग के लिए हुई थी। अलकेमी के अन्तर्गत रासायनिक कार्य करने हेत (मशीन) के अनेकों प्रकार के आकारों का वर्णन प्राप्त होता है जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण गर्भयन्त्र है, उपयोग पारा के पक्काकरण (यौगिकीकरण) के लिए होता था। कुछ यन्त्रों के आकार बैगन की तरह, आकार हण्डी जैसा तो कुछ यन्त्रों का आकार स्त्रो–जननांग की तरह था।

मिथिला के जनकवि नागार्जुन ने भी रसक्रिया का वर्णन अपनी कविता में किया है, किन्तु कु अर्थ में –– "नव दुर्वासा, शवर–पुत्र मैं, शवर–पितामह / सभी रसों को गला–गला कर / अभिनव द्र करूँगा / महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन / अष्टधातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक भरूँगा / देखोगे, मरूँगा / देखोगे, सौ बार जियूँगा।" नागार्जुन की कविता के दूसरे नागार्जुन कौन थे? बौद्ध साहित्य में की काया–सिद्धि अथवा किमियागिरी–सिद्धि की कथा आती है। इससे सम्बंधित नागार्जुन की रचना क कुमारजीव ने अपने ग्रन्थ 'रसरत्नाकर', तीसरी–चौथी शदी, चाइनीज भाषा में किया। उस ग्रन्थ में उल्ले कायान्तरण–विद्या सीखने के लिए नागार्जुन ने एक पीपल के वृक्ष पर निवास करनेवाली यक्षी, स्त्रो–

कायान्तरण का अर्थ होता है काया बदलना, शरीर का चोला बदल कर दूसरे जीव की काया धारण करना; जैसे कि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से गाछ का रूप धर ले अथवा किसी मनुष्य को बाघ बना दिया जाय या बाघ को मनुष्य बना दिया जाय। पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से अनुमान होता है कि सिन्धु घाटी के लोग कायान्तरण के लिए ज्यामितिक आलेखन या अरिपन बनाते थे। दन्तकथा में उल्लेख आता है कि कामरूप (आसाम) के कामाख्या मन्दिर की तान्त्रिक स्त्रियाँ सुन्दर पुरुष को दिन के समय भेड़–बकरा बना कर रखती थी और शाम होते ही उसे फिर से मनुष्य बना देती थी। लोककथाओं में इस तरह के और भी उदाहरण मिलते हैं। तन्त्र साहित्य में इस विद्या को मतोत्तर मत कहा जाता है। कायान्तरण के इस अभिचार में तान्त्रिक सिद्ध लोग यन्त्र, मण्डल या अरिपन, मन्त्र और अग्नि के साथ विशेष क्रिया करते थे। छठी शताब्दी की गुप्तलिपि में लिखित तन्त्र–साहित्य की पाण्डुलिपि 'कुब्जिका तन्त्र', जो रसायन विज्ञान के परिष्कृत ज्ञान का रहस्योद्घाटन करता है, कायान्तरण के प्रमुखतत्व पारा को शिव का जनन–सत्व कहा है – "चुँकि इस सत्व का उपयोग मेरे श्रेष्ठ उपासक परम पद की प्राप्ति के लिए करते हैं, इसलिए इसे पारद कहा गया है। मेरे अंग से उत्पन्न होने के कारण, हे देवि, यह मेरे ही बराबर है। इसे रस कहा गया है, क्योंकि यह मेरे शरीर का स्राव है।" शिव का वीर्य पारा और देवी के अण्डाणु को अभ्रक कहा गया है; इन दोनों के मिलन से आधार धातु स्वर्ण में रूपान्तरित होता था और मानवीय शरीर को अमरत्व प्रदान करता था।

भारत के पड़ोसी देश चीन में किमियागिरी अथवा अलकेमी के प्रसार का श्रेय ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के लाओत्जू को जाता है, किन्तु सम्भवतः तन्त्रविद्या वहाँ और बहुत पहले से प्रयोग में था। चायनीज अलकेमी के प्रयोगकर्त्ता मूलतः वहाँ के तत्कालीन प्रमुख धर्म, ताओवाद के अनुयायी थे। लाओत्जू के अभिलेख में 'दीर्घजीवन' के उल्लेख से ताओवादियों को दीर्घ जीवन प्रदान करनेवाला पारसमणि और यौन–रहस्यवाद के उल्लेख से यौनांग को अक्षय बल प्रदान करनेवाला रसायन, अमृत की खोज करने की प्रेरणा मिली। लाओत्जू के लेख में चर्चित 'श्वासधारण' शब्दावली से ताओवादी लोग योगविधि से श्वास–नियन्त्रण की एक पद्धति का विवर्द्धन करने हेतु प्रोत्साहित हुए, और 'शान्तिमय शिशु' शब्द इस विचार को बल दिया कि कोई व्यक्ति अपने ही द्वारा, अपने शरीर में, एक तरह का भ्रूण–बीज उत्पन्न कर सकता है जिससे शरीर को अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है। इसके साथ ही, ताओवादियों ने इस विचार को अंगीकार किया कि इस ब्रह्माण्ड के मूल में दो मौलिक सिद्धान्त हैं –– यांग (yang) का सहज बल, और समान रूप से महत्वपूर्ण, यिन (yin) का निष्क्रिय बल। इस संसार की सभी वस्तुएँ यांग और यिन के भिन्न–भिन्न अनुपात से बनी हैं। यह विश्वास किया गया कि पुरुष में यांग का अनुपात अधिक रहता है जबकि स्त्री में यिन की मात्रा अधिक रहती है; साथ ही, यौन सम्भोग द्वारा दोनों बल के बीच सुसंयोग स्थापित किया जाता है। ताओवादियों को यह अभ्यान्तरिक किमियागिरी तान्त्रिक कायान्तरण से घनिष्ठ सम्बंध रखता है।

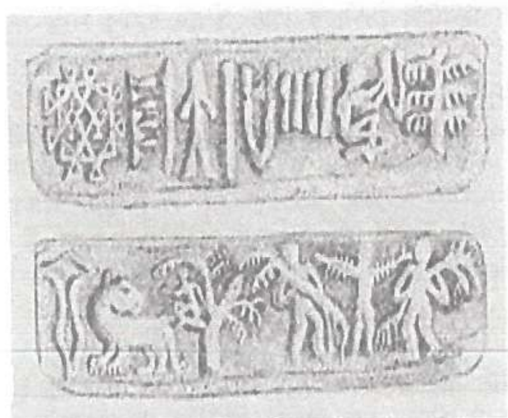
पश्चिमी जगत में किमियागिरी का प्रयोग मध्यकालीन युग में प्रारम्भ हुआ। वे पारस पत्थर (philospher's stone) की खोज में थे जो आधार वस्तु को उससे स्पर्श कराने पर सोना में परिवर्त्तित कर देता था। इस खोज में उन्होंने बहुत तरह के रासायनिक प्रयोग किए। बीसवीं शदी में भी कुछ पश्चिमी किमियागर इस खोज में थे जिनका लक्ष्य सोना के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक आनन्द की तलाश था। उन लागों ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस क्रिया को अलकेमी या किमियागिरी नाम दिया।

किमियागिरी और तन्त्र में अभिरुचि ने धातु–विज्ञान की अनेक खोजों को प्रेरित किया। यन्त्र या कुल्हर की खोज किमियागिरी में उपयोग के लिए हुई थी। अलकेमी के अन्तर्गत रासायनिक कार्य करने हेतु यन्त्र (मशीन) के अनेकों प्रकार के आकारों का वर्णन प्राप्त होता है जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण गर्भयन्त्र है, जिसका उपयोग पारा के पक्काकरण (यौगिकीकरण) के लिए होता था। कुछ यन्त्रों के आकार बैगन की तरह, कुछ के आकार हण्डी जैसा तो कुछ यन्त्रों का आकार स्त्रो–जननांग की तरह था।

मिथिला के जनकवि नागार्जुन ने भी रसक्रिया का वर्णन अपनी कविता में किया है, किन्तु कुछ दूसरे अर्थ में –– "नव दुर्वासा, शवर–पुत्र मैं, शवर–पितामह / सभी रसों को गला–गला कर / अभिनव द्रव तैयार करूँगा / महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन / अष्टधातुओं के चूरे की छाई में मैं फूँक भरूँगा / देखोगे, सौ बार मरूँगा / देखोगे, सौ बार जियूँगा।" नागार्जुन की कविता के दूसरे नागार्जुन कौन थे? बौद्ध साहित्य में नागार्जुन की काया–सिद्धि अथवा किमियागिरी–सिद्धि की कथा आती है। इससे सम्बंधित नागार्जुन की रचना का अनुवाद कुमारजीव ने अपने ग्रन्थ 'रसरत्नाकर', तीसरी–चौथी शदी, चाइनीज भाषा में किया। उस ग्रन्थ में उल्लेख है कि कायान्तरण–विद्या सीखने के लिए नागार्जुन ने एक पीपल के वृक्ष पर निवास करनेवाली यक्षी, स्त्रो–आत्मा की

बारह वर्षों तक पूजा–उपासना की। नागार्जुन की उपासना से प्रसन्न हो कर उस यक्षी ने नागार्जुन से वर माँगने को कहा। नागार्जुन ने पूछा कि पारा के पक्काकरण (यौगिकीकरण) का रहस्य क्या है? उस कसौटी पत्थर का क्या रहस्य है जो किसीके मन या शरीर का उत्परिवर्त्तन करता है और आयु के कारण हुई क्षति या क्षय से शरीर को मुक्त कर देता है? अपनी रचना में नागार्जुन ने किमियागिरी के प्राचीन ज्ञान की पुष्टि भी की जिसमें वनस्पति या जड़ी–बूटी का उपयोग उत्परिवर्त्तन की धार्मिक क्रिया में होता था। जड़ी–बूटी से उत्परिवर्त्तन का उल्लेख अथर्ववेद संहिता में भी हुआ है –– ''जड़ी–बूटी से बना, बाघ जैसा तावीज त्राणकर्त्ता है, मारक अभिचारों से रक्षा करता है।''

मिथिला चित्र–कला को विश्व–पटल पर रखने में अग्रणी भूमिका निभानेवाली विदुषी पुपुल जयकर ने अपनी पुस्तक The Earth Mother में अरिपनों के सिन्धु घाटी कालीन साक्ष्यों पर विस्तृत चर्चा की है। विदुषी लेखिका ने सिन्धु घाटी कलाकारों द्वारा मूहरों और तावीजों पर उत्कीर्ण चित्रों को कथा–शैली का रूप देते हुए उत्परिवर्त्तन की धार्मिक क्रिया में अरिपनों के उपयोग का उल्लेख किया है। आद्य मानव–समाज का पृथ्वी, वृक्ष और पशुओं के संग घनिष्ठ सम्बंध और कायान्तरण के गुप्त रहस्यों के उपक्रमों के लिए एक उत्प्रेरक की तरह उसका उपयोग सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं पर अंकित धार्मिक क्रिया से उद्घाटित होते हैं। सिन्धु घाटी के शिल्पियों या उनकी कला–रचनाओं में प्रदर्शित पुजारियों की पहुँच निश्चित रूप से अत्यन्त विकसित पादप रस–विज्ञान या किमियागिरी तक रही होगी। मुद्राओं पर अंकित धार्मिक दृश्य तरल गतिमयता और गाछ–वृक्ष, पशु तथा मनुष्य के बीच रूप और परिचय की निर्बाध परिवर्त्तनशीलता प्रदर्शित करते हैं।



जिस एक धार्मिक दृश्य का प्रदर्शन मोहेनजो–दारो और हड़प्पा की अनेक मुद्राओं पर अनेक रूप में हुआ है, वह है वृक्ष की आत्मा का बाघ के संग रहस्यमय मुद्रा में गपसप। एक उदाहरण में आत्मा का दर्शन होता है; नीम के वृक्ष पर स्थिर भाव से बैठी एक अप्सरा, उसका शरीर योग को पूर्ण साम्यावस्था में। वृक्ष–आत्मा के लम्बोतरा, रेखाकार शरीर में कोई अतिरिक्त मात्रा या पदार्थ नहीं है बल्कि वह गाछ और उसकी शाखा का ही एक भाग है। इस वृक्ष–नारी की बाँहें फैली हुई हैं, वृक्ष की धड़ से बाहर निकली हुई, किसी सुकोमल प्रतान की तरह। उसकी उँगलियाँ इशारा करती हैं, वृक्ष की फुनगी की तरफ उभरते अक्षर, लिपि, विस्तारित पर्णसमूह की तरफ। बाघ वृक्ष के नीचे खड़ा है, निश्चल, कुछ सुनने के लिए ठहरा हुआ। उसका सिर वृक्ष में समायी आकृति की ओर मुड़ा, पत्तों की खड़खड़ाहट की ध्वनि पकड़ने के लिए। मुद्रा में बायी ओरं, बाघ के बगल में, 'गर्भ के साथ मिला योनि' का आकार उत्कीर्ण है। दाँयी ओर, दो आदमी एक गाछ को पकड़ कर उसे जड़ तक चीड़ते हुए दिखलाया गया है। गाछ को ओदारने के उपक्रम में वह धनुष की तरह पीछे थोड़ा झुक गया है। जड़ से उपाड़ कर ओदारे गए गाछ के बीच से, विदीर्ण पृथ्वी के गढ़े से, एक आकृति कूद कर सामने आती है – पृथ्वी की युवा, नग्न, फुरतीली आत्मा। आत्मा की बाँहें फैली हुई हैं, वृक्ष उखारनेवाले दोनों आदमी की ओर फैले हाथ जैसे उन्हें विनाश–कार्य करने से रोक रहे हों।

मुद्रा के पृष्ठ भाग में, बाँयी ओर, एक अरिपन बना हुआ है, चौकोर आरेख में त्रिभुजाकार आरेखों से बना अष्टदल। इस अरिपन के बाद सिन्धु घाटी की लिपि है, दो खड़ी रेखाओं से घिरी एक आकृति और घुटनों के बल बैठी एक आकृति। वह आकृति अंग्रेजी के V आकार की किसी वस्तु को पकड़, एक गाछ को पूजती है। प्रसंगवश यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि मिथिला अरिपन के अष्टदल का विकास ऐसे ही चौकोर आकार से हुआ होगा।



एक अन्य मुद्रा में वृक्ष–नारी, देदीप्यमान यक्षी गाछ से पृथक हो गयी है। अब वह गाछ के संग एक लय में, उसको मुक्त करने के लिए थोड़ा झुकती है। अभी तरु–नारी रूपान्तरण या काया–परिवर्त्तन के क्षण से गुजर रही है। रेखाकार, देहहीन आकार ने अब एक गोल–मटोल स्त्रो का आकार ले लिया है। उसके अक्षत वक्ष स्पष्ट दीख रहे हैं। उसके माथे पर सींग हैं। उसकी बाँह बगल से फैली हुई हैं और कमर गोलाई लेते हुए

इस तरह मुड़ी है कि उसके मांसल होने का बोध होता है। मुद्रा पर उस गाछ के स्थान पर अब एक रहस्यमय आरेख, अरिपन आ गया है। वृक्ष की आधार भूमि पर एक वृत्त बना है, श्रोचक्र, देवी का चिन्ह और वेदी। स्त्रो वृक्ष–देवता के सम्मुख पूजा की मुद्रा में है। उसके आगे पूजा का अर्घ्य रखा है। पुजारी स्त्रो के पीछे बहुत ऊँचे कद–काठी का एक छागर या बोतो है जिसका चेहरा मनुष्य जैसा है और जिसकी गरदन से फूल की एक माला लटक रही है। उस पशु का आवर्धित आकार उसके महत्व को दर्शाता है। एक माछ, लिपि का एक भाग बनते हुए, बहुत ध्यान से उत्कीर्ण किया गया है और मानवीय बोतो के ऊपर रखा गया है। माछ का आकार शेष लिपि से बड़ा है और माछ के भीतर एक बिन्दु है। भारतीय कामशास्त्र में मत्स्य को स्त्रो का प्रतीक कहा गया ह, और बाद में, लैंगिक तथा स्त्रोजन्य देवत्व के रूप में, भग के साथ इसका तादात्म्य स्थापित हो गया; माछ के भीतर बिन्दु को योनि, काम–नयन, देवी का चिन्ह, स्त्रो–जननांग का प्रतीक, स्त्री–देह के गुप्त स्थान का प्रवेशद्वार, सृष्टि के रहस्य की देहलीज माना गया है। चित्र में माछ की अवस्थिति और मैथुन–समर्थ पुरुष–प्रतीक बोतो की ओर इसका अधोमुखी बढ़ाव बिम्बविधान की लैंगिक प्रकृति को दर्शाता है और इसका सम्बंध मिलन (सम्भोग), जन्म और उत्परिवर्त्तन की धार्मिक क्रिया के निरूपण के लिए करता है। मुख्य दृश्य के नीचे, एक सीध में तन कर खड़ी, सात आकृतियों के पार्श्वचित्र हैं जिनकी चोटी झूल रही हैं और वे शंक्वाकार टोपी पहने हुई हैं। उनके हाथों में जलपात्र हैं जिनसे जल प्रवाहित हो रहा है। ये सभी ग्रामीण प्रतीकविद्या की सात कुमारियाँ हैं, अथवा वनस्पति या जल की परियाँ हैं जो सम्पूर्ण उत्तर भारतीय नदी–घाटी की कथाओं की 'सात सखियाँ', तमिल नाडु की 'सप्त कन्निगै', महाराष्ट्र की 'सत असरा' –– सात रूप जिनका मिश्रित परिकल्पना में विलयन होता है, एक ही धरातल पर खड़ी, दुर्भीक्ष के समय जिनका आवाहन जलदेवी के रूप में, पोखर–इनार की संरक्षिका के रूप में होता है, एक ऐसा सत्व जो पृथ्वी की ऊर्वरता बनाए रखती है।

अरिपन और तन्त्र

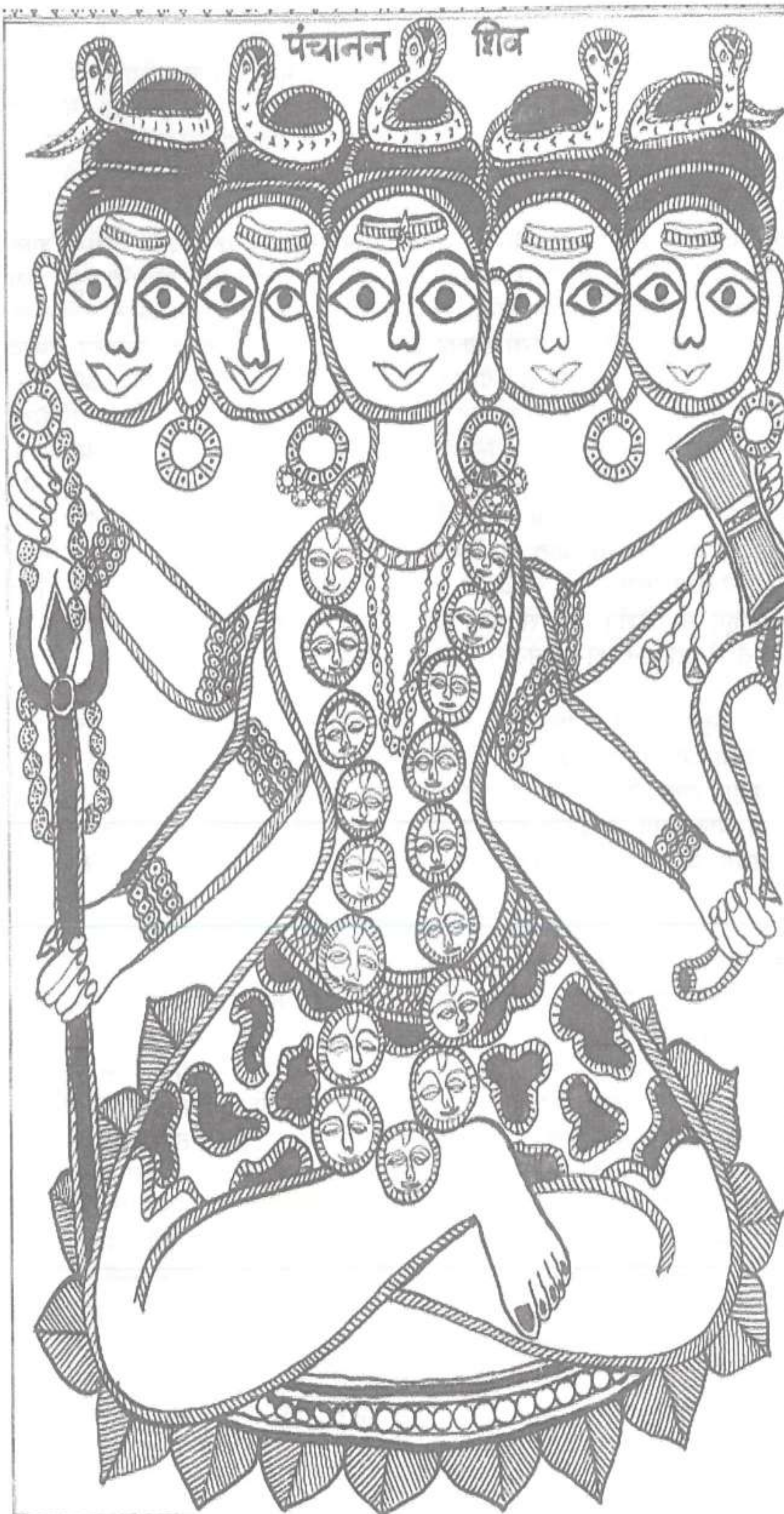
अरिपन (मण्डल या यन्त्र) का जन्म तन्त्र स और आकार का जन्म यन्त्र से हुआ है। भारतीय तन्त्र विश्व की प्राचीनतम ज्ञान–परम्परा है। तान्त्रिक साहित्यों का अलिखित या अतिप्राचीन रूप आज लुप्त हो गया है किन्तु उसके विस्तार का जो परिचय मिलता है उससे अनुमान किया जा सकता है कि प्राचोन काल में, वैदिक साहित्य की तुलना में, तन्त्र का आद्य रूप कई गुणा व्यापक रहा होगा।

तन्त्र और आगम दोनों समानार्थक शब्द हैं। किसी–किसी स्थान पर आगम शब्द के बदले 'निगम' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। वेद जिस प्रकार हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा से सम्बद्ध है उसी प्रकार तन्त्र की निष्पत्ति मूल रूप से शिव और शक्ति से हुई है। जैसे शिव का, उसी प्रकार शक्ति के भी अनेक रूप हैं। शिव और शक्ति के भिन्न–भिन्न रूपों से विभिन्न तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। इसी प्रकार शैव तथा शाक्त तन्त्रों के अनुरूप वैष्णव तन्त्र भी हैं। 'पांचरात्र' या 'सात्वत' आगम इसीका नामान्तर है। वैष्णव के अनुरूप गणपति, सौर, बौद्ध और जैन आदि सम्प्रदायों में भी अपनी–अपनी धारा के अनुसार आगम का प्रचार हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋषियों के द्वारा निरूपित भिन्न–भिन्न ग्रन्थादि भी तान्त्रिक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इस तरह प्रमाणिक ज्ञानधारा का आश्रय लेते हुए ज्ञान, योग, चर्या तथा क्रिया से सम्बंधित बहुसंख्य प्रकरण ग्रन्थों की रचना हुई है। इतना ही नहीं, तत्सम्बंधी उपासना, कर्मकाण्ड और यहाँ तक कि लौकिक प्रयोग–साधन और प्रयोग–विज्ञान क विषय में रचित अनेक ग्रन्थ तन्त्र साहित्य के अन्तर्गत आत हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि परम अद्वय विज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन जैसा तन्त्र ग्रन्थों में मिलता है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में दुर्लभ है। वर्त्तमान हिन्दू समाज वेदाश्रित होते हुए भी विशेष रूप से तन्त्र द्वारा नियन्त्रित है, और इसलिए मिथिला में सभो पर्व–त्योहार, व्रत और सभी संस्कारों में अरिपन का आलेखन अनिवार्य माना गया है।

तान्त्रिक ग्रन्थ 'किरणागम' के अनुसार, विश्वसृष्टि के पश्चात परमेश्वर ने सबसे पहले महाज्ञान का संचार करने हेतु दस शिव को प्रकट किया और प्रत्येक को अविभक्त महाज्ञान का एक–एक अंश प्रदान किया। इसी अविभक्त महाज्ञान को शैवागम कहा जाता है। वेद जिस प्रकार वास्तव में एक है और अखण्ड महाज्ञान स्वरूप है किन्तु विभक्त हो कर तीन या चार नामों से प्रकट हुआ है, उसी तरह मूल शिवागम भी वास्तव में एक होते हुए भी विभक्त हो कर दस आगम के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इन सभी आगम धाराओं में प्रत्येक की अपनी–अपनी परम्परा है।

दस शिव में प्रथम 'प्रणव' शिव है। उसने साक्षात परमेश्वर से जिस आगम को प्राप्त किया उसका नाम 'कामिक' आगम ह। प्रसिद्ध है कि प्रणव शिव से त्रिकाल को और त्रिकाल से 'हर' को क्रमशः यह आगम प्राप्त हुआ। इसी कामिक आगम का नामान्तर 'कामज' है। दूसरे शिवागम का नाम 'योग' है। इस आगम के पाँच अवान्तर भेद हैं। पहले 'सुधा' नामक शिव ने इसे प्राप्त किया। सुधा से इसका संचार भष्म में, पुनः भष्म से 'प्रभु' में हुआ। तीसरा आगम 'चिन्त्य' है। इसके छः अवान्तर भेद हैं। इसे प्राप्त करनेवाले शिव का नाम 'दीप्त' है। दीप्त से 'गोपति', फिर गोपति से 'अम्बिका' ने इसे प्राप्त किया। चौथा शिवागम 'कारण' है। इसके सात भेद हैं। इसे प्राप्त करनेवाले क्रमशः 'कारण', कारण से 'शर्व' और शर्व से 'प्रजापति' हैं। पाँचवाँ आगम 'अजित' है। इसके चार अवांतर भेद हैं। इसे प्राप्त करनेवाले क्रमशः 'सुशिव', सुशिव से 'उमेश' और उमेश से 'अच्युत' हैं। छठे आगम का नाम 'सुदीप्तक' है। इसके नौ भेद हैं। इसे प्राप्त करनवाले क्रमशः 'ईश', ईश से 'त्रिमूर्ति' और त्रिमूर्ति से 'हुताशन' हैं। सातवें आगम का नाम 'सूक्ष्म' है। इसका कोई भेद नहीं है। इसे प्राप्त करनेवालों के नाम क्रमशः 'सूक्ष्म', 'भव' और 'प्रभंजन' हैं। आठवें आगम का नाम 'सहस्र' है। इसके दस अवांतर भेद हैं। इसे प्राप्त करनेवालों के नाम क्रमशः 'काल', 'भीम' और 'खग' हैं। नवम आगम 'सुप्रभेद' है। इसका भी कोई भेद नहीं है। इसे पहले 'धनेश' ने प्राप्त किया, फिर धनेश से 'विघ्नेश' और विघ्नेश से 'शशि' ने प्राप्त किया। दशम आगम 'अंशुमान' है जिसके बारह भेद हैं। इसे प्राप्त करनेवाले क्रमशः 'अंशु', 'अग्र' और 'रवि' हैं। उपर्युक्त दस आगमों की सूची 'किरणागम' के आधार पर है। 'श्रीकण्ठी संहिता' की सूची में 'सुप्रभेद' के स्थान पर 'मुकुट' या 'मुकुटागम' का उल्लेख है।

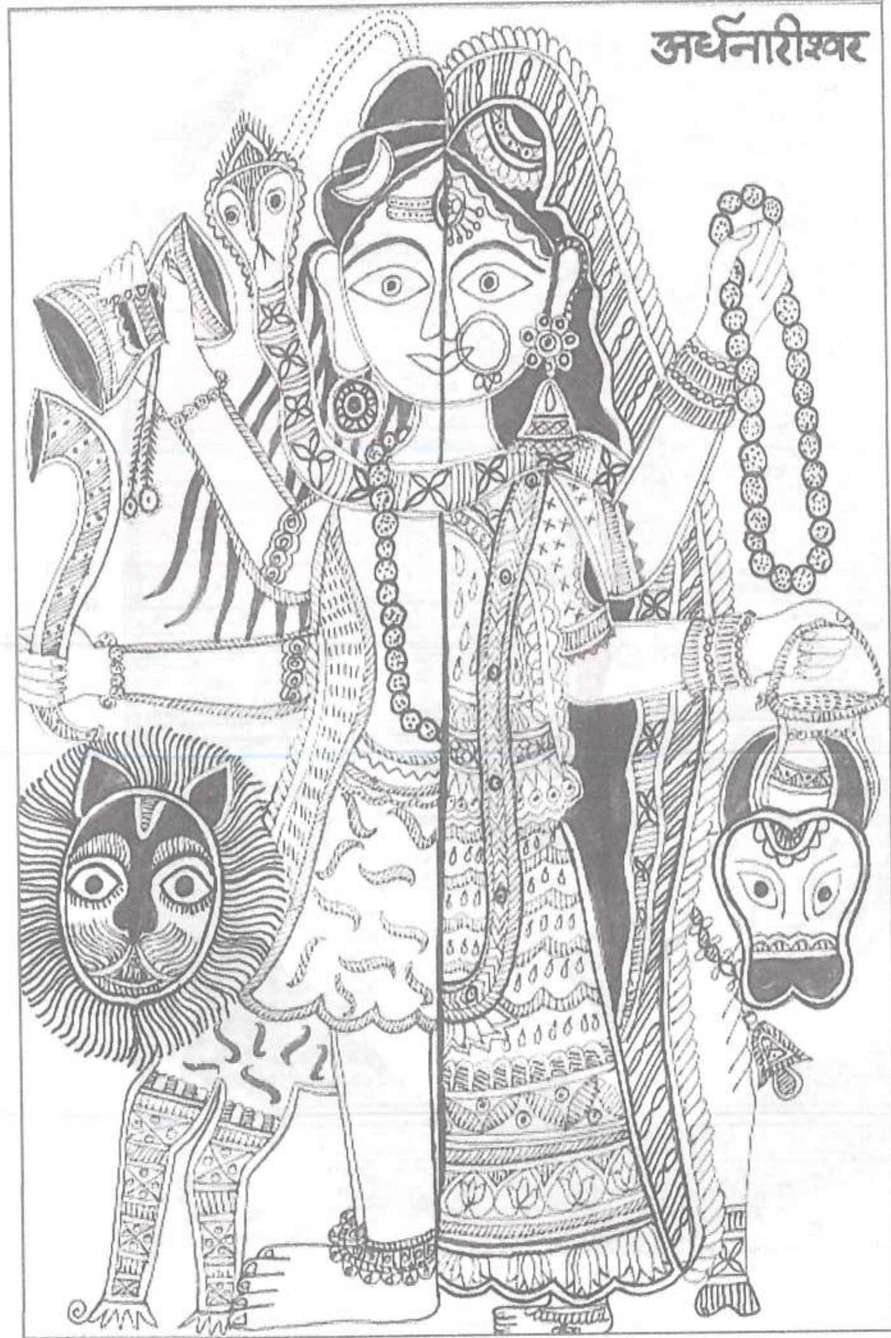
प्राचीन आगम को दो भागों में बाँटा गया है –– शैवागम, संख्या में दस (उपर्युक्त विवरण) और रुद्रागम, संख्या में अठारह। श्रीकण्ठी संहिता के अनुसार, अठारह रुद्रागमों क नाम इस प्रकार हैं – विजय, निःश्वास, पारमेश्वर, प्रोद्गीत, मुखबिंब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चंद्रांशु या चन्द्रहास, वीरभद्र, स्वायंभुव, विरक्त, रौरव, विमल, किरण, गलित, विसर और सौरभेय। ये कुल अठाइस आगम 'सिद्धान्त आगम' के रूप में विख्यात हैं।



तन्त्र में शिव को पाँच मुखवाला बताया गया है। 'कामिक आगम' में शिव के पाँचों मुख के नाम इस प्रकार बताए गए हैं – सद्योजात, बामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। किसी–किसी ग्रन्थ में बताया गया है कि शिव के पाँचों मुख से अठाइस आगम निर्गत हुए हैं जिसका विवरण इस प्रकार है – शिव के सद्योजात मुख से कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण और अजित नामक आगम निर्गत हुए; बामदेव नामक मुख से दीप्त, सूक्ष्म, सहस, अंशुमत या अंशुमान और सुप्रभेद निर्गत हुए; अघोर नामक मुख से विजय, निःश्वास, स्वायंभुव, आग्नेय और वीर निर्गत हुए; ईशान नामक मुख से रौरव, मुकुट, विमलज्ञान, चन्द्रकान्त और बिंब निर्गत हुए और तत्पुरुष नामक मुख से प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, वातुल, किरण, सर्वोच्च और पारमेश्वर नामक आठ रुद्रागम निर्गत हुए। 'कामिक आगम' की स्थापना है कि सदाशिव के पंचमुख से पांचरात्र स्रोतों का सम्बंध है। इसलिए कुल पचीस स्रोत हैं। पाँचों मुख के पाँच स्रोतों के नाम लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्र हैं। साम सिद्धान्त के अनुसार, लौकिक तन्त्र पाँच प्रकार के हैं और वैदिक तन्त्र भी पाँच प्रकार के हैं। इन सभी तन्त्रों में परस्पर उत्कर्ष और अपकर्ष के विचार पाए जाते हैं।

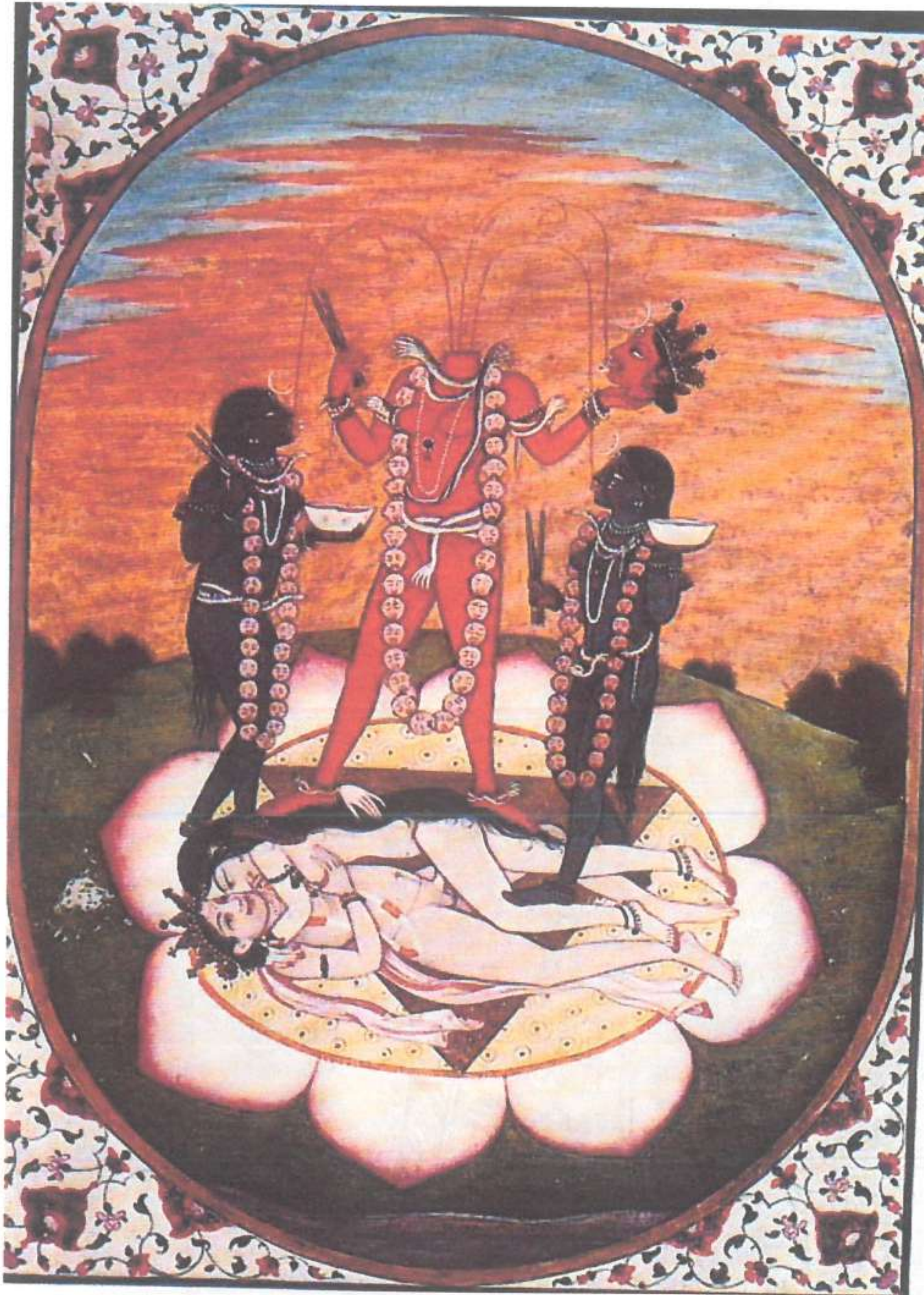
कहा गया है कि शिव जब शक्ति के संग संयुक्त रहते हैं तभी शिव नहीं तो शव, निष्क्रिय, निष्कल रहते हैं। दोनों के संयुक्त रूप को अर्द्धनारीश्वर कहा गया है। अर्द्धनारीश्वर के पुरुष अंश से रुद्र उत्पन्न हुआ और स्त्रो अंश से शक्ति प्रकट हुई। प्रसिद्ध है कि प्रजापति सृष्टि के आरम्भ में एक था। जब उसके मन में सृष्टि की इच्छा हुई तब उसने अपने शरीर के दो खण्ड करके आधे में पुरुष और आधे में स्त्रो–भाव का निर्माण किया। शिव के अर्द्धनारीश्वर भाव का सृष्टि–प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। कथा है कि प्रारम्भ में ब्रह्मा केवल पुरुष–भाव से सृष्टि करते थे। इस विधि से उन्हें प्रजा–सृष्टि के कार्य में सफलता नहीं मिली। अन्त में उन्होंने शिव की आराधना की। शिव ने उन्हें अर्द्धनारीश्वर स्वरूप में दर्शन दिया जिससे ब्रह्मा को सृष्टि–विधान की सही युक्ति ज्ञात हुई और स्त्रो–पुरुष के संयोग से सृष्टि का क्रम आगे बढ़ा।

अर्द्धनारीश्वर का प्रतीकात्मक भाव यह है कि सृष्टि के लिए पुरुषतत्व और स्त्रोतत्व दोनों के मैथुनधर्म की आवश्यकता होती है। इस पृथ्वी पर जहाँ तक भी हम प्राणवन्त सृष्टि का विस्तार देखते हैं, पिता द्वारा माता के गर्भधारण से प्रजा अर्थात मनुष्य, पशु–पक्षो, कीट–पतंग, वृक्ष–लतादि समस्त जीवों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के इस आदिभूत मातृत्व और पितृत्व को ही पौराणिक प्रतीक भाषा में अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है। यही शिव और पार्वती हैं। यही पिता और माता हैं।



वैदिक साहित्य के अनुसार, जो शिव है वही रुद्र है, वही पुरुष है; और जो पार्वती है, वही अम्बिका है, वही स्त्रोतत्व है। पुरुष में अग्नितत्व प्रधान होता है और स्त्रो में सोम प्रधान होता है, किन्तु वैदिक प्रमाण है कि सोम अग्नि के साथ ही उपस्थित रहता है। अर्थात जहाँ–जहाँ अग्नि है, वहीं आधा भाग सोम का भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो स्त्रो है उसके अभ्यन्तर में आधा भाग पुरुषतत्व विद्यमान रहता है, जैसे पुरुष के अभ्यन्तर में स्त्रीतत्व। इसी अर्थ में, स्त्रो का शोणित आग्नेय और पुरुष का शुक्र सौम्य भाव से युक्त रहता है। शुक्र और शोणित अथवा वृषा और योषा ही विज्ञान की भाषा में नर और मादा कहे जाते हैं। पुरुष द्वारा नारी में जो बीजार्पण होता है, नारी अग्नि के उस अंश का अपने गर्भ में ले कर अपनी मात्रा से उसका संवर्द्धन करती है

और उसीसे प्रजा की सृष्टि होती है। अग्नि में सोम की आहूति या अग्नि और सोम का समन्वय ही शिव और शक्ति का सायुज्य है, जिस शक्ति की अनुपस्थिति में शिव भी निष्क्रिय हो जाता है और जिससे संयुक्त होते ही शिव तत्क्षण अपने पंचकर्म में प्रवृत हो जाता है। शिव और शक्ति का यह ऐक्य भाव ही शिव का 'पार्वतीपरमेश्वर' अथवा 'अर्द्धनारीश्वर' रूप है।



शक्ति जिस प्रकार देवों की माता है उसी प्रकार असुर और मनुष्य की भी जननी है। इसी कारण से देवता और असुर दोनों वर्ग अपनी–अपनी धारा के अनुसार उपासना–पद्धति का अवलम्बन करते हैं और दोनों की साधना के फल भी साधना की प्रकृति के अनुरूप ही होता है। भिन्न–भिन्न मत या धारा के अनुरूप साधना–उपासना की समग्र पद्धति और फल का प्रतिपादन करनेवाली विद्या को तन्त्र कहा गया है।

आधुनिक विचारकों के अनुसार तन्त्र के तीन भेद कहे गए हैं – समयमत, कौलमत और मिश्रमत। जो तन्त्र वैदिक मार्ग का अनुसरण करते हुए श्रीविद्या का प्रतिपादन करते हैं उसे समयमत या समयाचार तन्त्र कहा जाता है। शंकराचार्य ने "सौन्दर्यलहरी" नामक ग्रन्थ में श्रीविद्या का निरूपण किया। समयाचार तन्त्र पाँच शुभागम में विभाजित है जिसके मुख्य कर्त्ता वशिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार कहे गए हैं। प्रसिद्ध है कि वशिष्ठ ने तिब्बत जा कर तारा–तन्त्र (कौलमत) का ज्ञान प्राप्त किया।

अपनी–अपनी वंश–परम्परा से प्राप्त मार्ग को, कुल से सम्बंधित होने के कारण, कौलमत कहा गया ह। देश, घर, सजातीय लोक, गोत्र और शरीर को भी कुल कहा गया है। शिव के संग शक्ति के सामरस्य को भी कौल और कुल से सम्बंधित देवी को कौलिनी कहा गया है। महामाया तन्त्र, शंबर तन्त्र, भैरव तन्त्र आदि चौंसठ तन्त्र कौलतन्त्र हैं जिनमें अनेकों परमार्थिक और व्यावहारिक विद्या का समावेश है। इन तन्त्रों में ब्रह्म के स्वरूप, जगत की सृष्टि और संहार के अतिरिक्त तत्व–विभाग हैं जो परमाथ सम्बंधी विद्या हैं। इतने विस्तार के

अतिरिक्त चतुःषष्ठी तन्त्र में व्यावहारिक विषयों का समावेश है जिसमें धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि प्राप्त होती है। चतुःषष्ठी तन्त्र जिस तात्विक सिद्धान्त पर अवलम्बित है उसे शाक्त अद्वैतवाद कहा गया है। मन्मथ (कामदेव) और श्रीकृष्ण को द्वैत और द्वैताद्वैत शिवागम का उपासक कहा गया है।

कुलमार्ग तथा वेदमार्ग दोनों के अनुसरण में प्रवर्तित मार्ग को मिश्रमत कहा गया है। मिश्रमत के भी पाँच भेद कहे गए हैं। हरिवंश में उल्लेख है कि भगवान श्रीकृष्ण ने दुर्वासा ऋषि से अद्वैत तन्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। दुर्वासा को कलियुग में अद्वैत तन्त्र का प्रकाशक कहा गया है। महाभारत के मोक्ष पर्व के अनुसार, श्रीकृष्ण ने उपमन्यु से द्वैत और अद्वैत शैवागम की शिक्षा प्राप्त की। अनेक विद्वान तन्त्र के मात्र दो भेद मानते हैं —— वैदिक और अवैदिक।

धार्मिक ग्रन्थों ने चार युगों की परिकल्पना करते हुए वर्त्तमान युग, कलियुग में, तन्त्राधारित लौकिक आचरण पर बल दिया है। कुलार्णव में उल्लेख है कि "कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रतायां स्मृति संभवः। द्वापरेतु पुराणोक्तः कलवागमः सम्मतः।।" अर्थात, सतयुग में वेदाधारित, त्रेता में स्मृतियों के निर्देशानुसार, द्वापर में पराणों के निर्देशानुसार और कलियुग में आगम पर आधारित जीवन–पद्धति उचित है। 'महानिवाण तन्त्र' में शिव पार्वती से कहते हैं कि कलियुग में आगम शास्त्रों का अनुसरण किए बिना सिद्धि की प्राप्ति असम्भव है। 'वाराही तन्त्र' में आगम के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं —— "सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानांतथार्चनम्। साधनश्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च। षटकर्मसाधनंचैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्ष्णैर्युक्तमागम तद्विदुर्बुधाः।।" अर्थात, जिस शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, कार्यसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म आदि आचरण और बाधा दूर करने के उपाय तथा शान्ति–स्थापना का विधान हो, वही आगम शास्त्र है। शिव और शक्ति के बहुविध साहचर्य और उससे प्राप्त परिणामों की व्याख्या करनेवाले शास्त्र को भी आगम कहा जाता है।

प्रागैतिहासिक घटनाक्रम और भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तन्त्र का प्रादुर्भाव और सुरासुर संग्राम के मूल में आर्य–अनार्य के बीच का संघर्ष और सिन्धु घाटी–संस्कृति का पराभव एक मुख्य तत्व है। पश्च गमन की ज्ञात घटनाओं में यह सबसे प्रारम्भिक और क्रूर घटना थी जो प्रायः दो हजार वर्ष ईसा पूर्व घटित हुई थी, जब मातृ सत्तात्मक हड़प्पा वासियों पर पितृ सत्तात्मक आर्यों ने आक्रमण करके सिन्धु–संस्कृति के नगरों को ध्वस्त कर दिया। ग्रामीण अवचेतना की दुर्बोध कुण्डली में विपुल विस्थापन और आद्य इतिहास के युद्धों की जितनी स्मृति प्रच्छन्न हैं उनमें सबसे प्रवल स्मृति उस युद्ध की है जो गोरी चमड़ीवाले, घुमन्तू पशुपालक, पुरुष देवता, इन्द्र और सूर्य के उपासक आक्रमणकारी और काली चमड़ीवाले स्थानिक, ममतामयी मातृका के उपासक लोगों के बीच हुआ था। वे स्मृतियाँ आज भी जीवित हैं, बोलती हैं और अपने आप को दन्तकथाओं, कला–प्रतीकों और गीतों के प्रखर अर्थभेद के माध्यम से प्रकाशित करती रही हैं। ये कथाएँ, जो मातृसत्तात्मक और पितृ सत्तात्मक दोनों समाजों के रूपान्तरण और एकीकरण तथा देवी के संग देवता के सम्मिलन की परिकल्पना है, पुराणादिक कथाओं में अभिलिखित हैं, जबकि वैदिक साहित्य में अनार्यों के प्रति आर्यों के कठोर विद्वेष के स्वर उस दारुण काल के चित्र अनावृत करते हैं। प्रथम वैदिक ग्रन्थ, ऋग्वेद की ऋचाओं में, इन्द्र को सम्बोधित एक प्रार्थना है, "तुम्हारे भय से, वे काले–कलूटे निवासी युद्ध की प्रतोक्षा किए बिना ही, अपनी सम्पत्ति छोड़ कर भाग गए" और "हे मघवन, इन्द्र, जादूगरनियों के उस झुण्ड को वैलस्थान के ध्वस्त नगर में मार गिराओ।" बाद की ऐसी ही ऋचाओं में पराजित सैन्धव लागों के विस्थापन का समाचार प्रकट होता है – "जिन लोगों के आधिपत्य में यह विनष्ट नगर पहले था, दूर–दूर तक फैला वह भू–भाग, हे अग्नि, वे सब तुम्हारे द्वारा निष्का ित कर दिए गए और वे सब किसी दूसरे देश में विस्थापित हो चुके हैं।" राहुल सांकृत्यायन की रचना "दिवोदास" से भी पराजित सैन्धव लागों पर आर्यों के अत्याचार की सूचना मिलती है।

तरह–तरह के उत्पीड़नों से ग्रस्त लोगों के लिए जगदम्बा पावती ने शिव से किसी ऐसे उपाय उपलब्ध कराने का अनुरोध किया जो पीड़ित मानवता को त्राण दिला सके। जगदम्बा का अनरोध पा कर शिव ने चौंसठ तन्त्रों की रचना की। इस सम्बंध में शंकराचार्य ने "आनन्दलहरी" में उल्लेख करते हुए लिखा है – "चतुःषष्ठ्या तन्त्रः सकल मनुसंधाय भुवन, स्थित्वास्ततत् सिद्धि प्रसवपरतन्त्र पशुपतेः। पुनः स्तवन्निर्वधाद खिलपुरुषार्थैक घटना, स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।" अर्थात, पशुपति ने समग्र विश्व को सिद्धि प्रदर्शक चौंसठ तन्त्र प्रदान किया। उन प्रत्येक तन्त्र में किसी न किसी पुरुषार्थ को प्राप्त करनवाली उपासना का विवरण है, किन्तु देवी के पुनः आग्रह करने पर शिव ने पैंसठवे तन्त्र, स्वतन्त्र तन्त्र का प्रकाश किया। सभी चौंसठ तन्त्र परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु पैंसठवाँ तन्त्र अन्यनिरपेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र तन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। तान्त्रिक समाज में इसी कारण से इसे 'अनादि तन्त्र' माना गया है। इन सभी तन्त्रों के वक्ता शिव हैं और श्रोता पार्वती। कुछ तन्त्राचार्यो ने पैंसठवे तन्त्र को भगवान का 'मन्त्ररहस्य' कहा है। वृद्ध परंपरानुसार, मिथिला में अरिपनों का प्रादुर्भाव और उनकी संहिता का निर्माण कर्णाटवंशी शासनकाल में हुआ।

"सौन्दर्यलहरी टोका" में लक्ष्मीधर ने चौंसठ तन्त्रों की सूचो इस प्रकार दी है –– महामाया तन्त्र, शंबर तन्त्र, योगिनी जाल शंबर, तत्व शंबर, भैरवाष्टक (सिद्ध भैरव, बटुक भैरव, कंकाल भैरव, काल भैरव, कालाग्नि भैरव, योगिनी भैरव, महा भैरव, शक्ति भैरव) तन्त्र, बहुरूपाष्टक तन्त्र, ब्राह्मो तन्त्र, माहेश्वरी तन्त्र, कौमारी तन्त्र, वैष्णवी तन्त्र, वाराही तन्त्र, चामुण्डा तन्त्र, शिवदूती तन्त्र, आठ यामल तन्त्र (यामलाष्टक), चन्द्रज्ञान, मालिनो विद्या, महासम्मोहन, वामयुष्ट तन्त्र, महादेव तन्त्र, वातुल तन्त्र, वातुलोत्तर तन्त्र, कामिक तन्त्र, हृद्भेद तन्त्र, तन्त्रभेद, गुह्यतन्त्र, कलावाद तन्त्र, कलासार तन्त्र, कुण्डिका मत, मतोत्तर मत, विनयाख्य तन्त्र, त्रोतल तन्त्र, त्रोतलोत्तर तन्त्र, पंचामृत तन्त्र, रूपभेद तन्त्र, भूतडामर तन्त्र, कुलसार तन्त्र, कुलोड्डिस तन्त्र, कुलचूडामणि तन्त्र, सर्वज्ञानोत्तर तन्त्र, महाकालो मत, अरुणेश तन्त्र, मदनीश तन्त्र, विकुण्ठेश्वर तन्त्र, आठ छपणक सम्प्रदाय के तन्त्र –– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, निरुत्तर, विमल, विमलोत्तर और देवीमत।

"तोडल तन्त्र" में उपर्युक्त से भिन्न सूची प्राप्त होती है जिसे अधिकतर विद्वान समीचीन मानते हैं। यह सूची इस प्रकार है –– काली, मुण्डमाला, तारा, निर्वाण, शिवसागर, वीर, निदर्शन, लतार्चन, तोडल, नील, राधा, विद्यासागर, भैरव, भैरवी, सिद्धेश्वर, मातृभेद, समया, गुप्तसाधक, माया, महामाया, अक्षया, कुमारी, कुलार्णव, कालिका, कुलसर्वस्व, कालिकाकला, वाराही, योगिनी, योगिनी हृदय, सनत्कुमार, त्रिपुरासार, योगिनी विजय, मालिनी, कुक्कुट, श्रीगणेश, भूत, उड्डीश, कामधेनु, उत्तर, वीरभद्र, वामकेश्वर, कुलचूड़ामणि, ज्ञानार्णव, वरदा, तन्त्रचिन्तामणि, वारुणीविलास, हंसतन्त्र, चिदंबरतन्त्र, श्वेतवारिध, नित्या, उत्तरा, नारायणी, ज्ञानदीप, गौतमीय, निरुत्तर, गर्जन, कुब्जिका, तन्त्रमुक्तावली, वृहदश्रीक्रम, स्वतन्त्रयोनि और मायाख्य। तन्त्र विशेषज्ञ गोपीनाथ कविराज ने लक्ष्मीधर क विवरणों के अधार पर इन चौंसठ तन्त्रों के विषय इस प्रकार बताया है ––

क्रम संख्या 1–2 **महामाया तन्त्र** और **शंबर तन्त्र** – इसमें माया और प्रपंच के द्वारा किसी परिस्थिति के निर्माण का वर्णन है। इसके प्रभाव के कारण द्रष्टा की इन्द्रियाँ किसी वस्तु या विषय को तदनुरूप ग्रहण नहीं करके मायारूप को ग्रहण करने लगता है। आधुनिक युग में प्रचलित हिपनॉटिज्म इसी तरह की मोहिनी विद्या है।
क्रम संख्या 3 **योगिनी जाल शंबर** – मायाप्रधान तत्व को शंबर कहा जाता है। यह योगिनियो के दर्शन का श्मशान–साधना तन्त्र है।
क्रम संख्या 4 **तत्वशंबर** – यह महेन्द–जाल विद्या है। इसके प्रभाव से एक तत्व दूसरे तत्व में मिला हुआ दिखता है, जैसे पृथ्वी तत्व में जल तत्व की अनुभूति करना।
क्रम संख्या 5–12 **भैरवाष्टक तन्त्र** – इस अष्टक के अन्तर्गत सिद्ध भैरव, बटुक भैरव, कंकाल भैरव, काल भैरव, कालाग्नि भैरव, योगिनी भैरव, महाभैरव और शक्ति भैरव नामक तन्त्र आते हैं। इस तन्त्र में 'निधि–विद्या' का वर्णन है।
क्रम संख्या 13–20 **बहुरूपाष्टक तन्त्र** – इस तन्त्र के अन्तर्गत ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, शिवदत्ती, मातृकाओं से सम्बंधित तन्त्र का वर्णन है।
क्रम संख्या 21–28 **यामलाष्टक** – 'यामला' शब्द का अर्थ होता है कायासिद्धि। इससे सम्बंधित आठ तन्त्र हैं।
क्रम संख्या 29 **चन्द्रज्ञान** – इस तन्त्र में चन्द्रमा से सम्बंधित 16 तन्त्रों का वर्णन है, किन्तु इस नाम से वैदिक तन्त्र विद्या का भी एक तन्त्र है जो चतुःषष्ठी तन्त्र से बाहर है।
क्रम संख्या 30 **मालिनी विद्या** – इसमें सामुद्रिक यान आर जल पर चलने से सम्बंधित तन्त्र हैं।
क्रम संख्या 31 **महासम्मोहन**–इसमें जाग्रत मनुष्य को निद्रावस्था में लाने की विद्या का वर्णन है।
क्रम संख्या 32–36 **वामयुष्ट तन्त्र** – इस तन्त्र के अन्तर्गत महादेव तन्त्र, वातुल तन्त्र, वातुलोत्तर तन्त्र और कामिक तन्त्र जैसे मिश्रतन्त्र आते हैं।
क्रम संख्या 37 **हृद्भेद तन्त्र** – यह तन्त्र हृदय और मन से सम्बंधित कापालिक तन्त्र है।
क्रम संख्या 38–39 **तन्त्रभेद** और **गुह्यतन्त्र** –इनमें गुप्त रूप से प्रकृति–तन्त्र के भेद बताए गए हैं।
क्रम संख्या 40 **कलावाद** – इस तन्त्र में चन्द्रकलादिक प्रतिपादक विषय आते हैं। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थ इसी तन्त्र के अन्तर्गत आते हैं।
क्रम संख्या 41 **कलासार** – "सौन्दर्यलहरी" टीकाकार लक्ष्मीधर के अनुसार, इस तन्त्र में कर्ण लोगों के उत्कर्ष–साधन के उपाय वर्णित हैं। कहा जाता है कि तन्त्राधारित अरिपनों का निरूपण इसी तन्त्र से हुआ है।
क्रम संख्या 42 **कुण्डिका मत** – इस तन्त्र में गुटिका सिद्धि का वर्णन है।
क्रम संख्या 43 **मत्तोत्तर तन्त्र** – इस तन्त्र में रससिद्धि या अलकेमी का वर्णन है।
क्रम संख्या 44 **विनयाख्य तन्त्र** – विनया एक योगिनी वि षेष का नाम है। इस तन्त्र में विनया योगिनी को सिद्ध करने के उपाय बताए गए हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, विनया कोई योगिनी नहीं बल्कि एक संभोग–यक्षिणी का नाम है।

क्रम संख्या 45 **त्रोतल तन्त्र**–इस तन्त्र में घुटिका (पानपत्र, अंजन) और पादुकासिद्धि का वर्णन है।
क्रम संख्या 46 **त्रोतलोत्तर तन्त्र**– इसमें चौंसठ हजार यक्षिणियों के दर्शन के उपाय बताए गए हैं।
क्रम संख्या 47 **पंचामृत तन्त्र** – इस तन्त्र में पृथ्वी, जल, आकाश, वायु और अग्नि पंचतत्वों के अभिचार से किसी अण्ड या पिण्ड के मरणभाव का वर्णन है।
क्रम संख्या 48–52 **रूपभेद, भूतडामर, कुलसार, कुलोड्डिश** और **कुलचूड़ामणि** तन्त्र में मन्त्रादिक प्रयोग से शत्रु को मारने का वर्णन है।
क्रम संख्या 53–57 **सर्वज्ञानोत्तर, महाकाली मत, अरुणेश, मदनीश, विकुंठेश्वर** – ये पाँचों तन्त्र 'दिगम्वर सम्प्रदाय' के तन्त्र हैं।
क्रम संख्या 58–64 **पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, निरुत्तर, विमल, विमलोत्तर** और **देवीमत** – ये छपणक सम्प्रदाय के तन्त्र हैं।

समस्त तन्त्र इस आदर्श विचार पर आधारित हैं कि इस ब्रह्माण्ड की रचना एक पुरुष और एक स्त्रो के मेल से हुई है। स्त्रो–शक्ति का प्रतिनिधित्व देवी शक्ति करती है जिसकी सर्व–प्रमुख भूमिका कही गयी है। शिव को निष्क्रिय पुरुष–शक्ति का प्रतिमान कहा गया है। तन्त्र में स्त्रो को मक्ति की चाभी कहा गया है। वह स्त्रो ही है जिसके माध्यम से धार्मिक सम्भोग के द्वारा देवो शक्ति तक पहुँचा जा सकता है। धार्मिक लैंगिक सम्भोग शारीरिक और प्रतीकात्मक दोना हो सकता है। जो साधक तान्त्रिक शारीरिक सम्भोग का मार्ग अपनाते हैं उन्हें वाममार्गी कहा जाता है और जो प्रतीकात्मक सम्भोग का मार्ग अपनाते हैं उन्हें दक्षिणपंथी तान्त्रिक कहा जाता है।



मिथिला में तन्त्र

मिथिला में तन्त्र का प्रादुर्भाव किस युग में हुआ इसका ठीक–ठीक हिसाब लगाना तो कठिन है, किन्तु मिथिला, बंगाल, कश्मीर आर कर्णाटक प्राचीन काल से ही तन्त्र–विद्या के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। मिथिला का हृदय–प्रदेश, दरभंगा, वस्तुतः कभी **द्वारबंग,** बंगाल का द्वार कहा जाता था जहाँ बंगाल से छात्र आते थे और तन्त्र समेत दर्शन की अनेक शाखाओं का अध्ययन करने के बाद अपने प्रदश लौटते थे। मिथिला में तन्त्र की स्थिति पर इतिहासकार प्रोफेसर राधा कृष्ण चौधरी ने अपनी पाण्डुलिपि में सविस्तार उल्लेख किया है। मिथिला में तन्त्र के प्रसार पर चर्चा करते हुए उन्होंने महिषी, कात्यायिनी स्थान और जयमंगलागढ़ का विवरण दिया है।

प्रोफेसर चौधरी के अनुसार, महिषी में गाँव से बाहर, आग्नेय कोण में, पश्चिमाभिमुख एक मन्दिर है। उस मध्य एक नील सरस्वती और अक्षोभ्य ऋषि समेत तारा–मूर्ति विराजित है। यहाँ दूर–दूर से लोग अनुष्ठानार्थ आते हैं। नवरात्र में विशेष उत्सव होते हैं। वहाँ तारा, नीलसरस्वती, एकजटा, लक्ष्मी नारायण, त्रिपुर सुन्दरी, शीतला, तारानाथ आदि देवी–देवताओं की मूर्ति और छः कुण्ड भी हैं जिनके नाम क्रमशः तारा कुण्ड, ताराकंचुकी कुण्ड, वशिष्ठ कुण्ड, गौतम कुण्ड, अक्षोभ्य कुण्ड और मानसरोवर कुण्ड हैं। इन सभी कुण्डों का वर्णन चीनाचार तन्त्र में पाया जाता है – "वशिष्ठ कुण्ड पापघ्नं कुण्डं च गौतमाभिधां अक्षोभ्य कुण्डं सफलं चैतज्जाभ्य दिशिस्मित। तत समीपे महेशाजि सरोमानस संज्ञकम् माहिष्मत्याश्चमहात्म श्रृणु साध्वि वरानने। वशिष्ठं सम्मानिता तारणीचीन देशतः नारिभ्येन जटाशक्ति तथा नीलसरस्वती। अक्षोभ्य गरुणायुक्त स्थापिता यत्र सुन्दरी।।" कहा जाता है कि चीनाचार तन्त्र नामक ग्रन्थ दरभंगा राज पुस्तकालय में है।

पौराणिक परम्परानुसार, प्रजापति दक्ष ने एक यज्ञ का आयोजन किया जिसमें उसने अपनी पुत्रो सती और जामाता शिव को आमन्त्रित नहीं किया। सती (पार्वती) यज्ञ का समाचार जान कर बिना आमन्त्रण के ही अपने मायके आ गयी, किन्तु वहाँ अपने पति का अपमान देख कर यज्ञ–कुण्ड में कूद पड़ी। शिव को जब उस घटना का भान हुआ तब वहा पहुँचे और सती के जले शरीर को अपने कंधे पर उठा कर महारुद्र रूप में जहाँ–तहाँ घूमने लगे। शिव के उस क्रुद्ध रूप को देख कर समस्त देव और स्वयं विष्णु का चिंतित होना स्वाभाविक ही था। शिव को शान्त करने के उद्देश्य से विष्णु अपने सुदर्शन चक्र से देह को खण्ड–प्रखण्ड काट कर विभिन्न स्थानों पर गिराने लगे। इस क्रम में सती की आँख महिषी म गिरी और तभी से महिषी तन्त्र का एक प्रधान केन्द्र बन गया।

मैथिल परम्परानुसार, अति प्राचीन काल में महिषी असुरों का अड्डा था जिसे नियंत्रित करने हेतु वशिष्ठ चीन जा कर साधना के द्वारा शक्ति को लाने में सफल हुए। महिषी को महिषासुर की राजधानी भी कहा गया है। हर जगह से, हर तरह के तान्त्रिक यहाँ जुटते थे। महिषी को सिद्धपीठ कहा गया है – "कमला विमला चैव माहिष्मतीपुरी, वाराही त्रिपुरा चैव वाग्मती नीलवाहिनी।" इस क्षेत्र में वाणेश्वर महादेव भी है जिसकी स्थापना का श्रेय वाणासुर को दिया जाता है। तारा, भवादित्य और वाणेश्वर महिषी का त्रिकोण–तन्त्र है जिसस महिषी के तान्त्रिक केन्द्र होने का प्रमाण पुष्ट होता है। महिषी से थोड़ी दूरी पर मधेपुरा में प्रसिद्ध सिंहेश्वर मन्दिर भी है। इतिहास–प्रसिद्ध मण्डन–शंकराचार्य शास्त्रार्थ यहीं हुआ था।

आजकी मिथिला भले ही तन्त्र से बहुत परिचित नहीं हो किन्तु यहाँ के जन–जीवन में प्राचीन काल से ही शक्ति–प्जा का विशेष महत्व रहा है, और आज भी मिथिला के घर–घर में गोसाओनी की पूजा होती है। मिथिला के तान्त्रिक विशेष रूप से वामाचार के पक्षधर होते थे। यहाँ कौल और दशमहाविद्या का प्राधान्य प्राचीन काल से ही रहा है। तान्त्रिक देवी काली, तारा, भुवनेश्वरी, दुर्गा, पार्वती आदि शक्तियों का यहाँ के जन–जीवन में अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान रहा है। तन्त्र के फलस्वरूप यहाँ अभिचार–कर्म प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कि तन्त्र–साधना में जाति–पाति का कोई विशेष महत्व नहीं होता है तथापि प्राचीन काल से ही शूद्र और मिश्रित जातियों के लोग वामाचार मे विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। तन्त्र मिथिला के धार्मिक जीवन का एक मुख्य अंग था और अध्ययन–अध्यापन के अतिरिक्त मिथिला तन्त्र–साधना के लिए भी प्रसिद्ध रही है।

इस संसार के निर्माण और ध्वंश को प्रक्रिया को समझने के लिए तान्त्रिक ग्रन्थों में 'दशमहाविद्या' का उल्लेख किया गया है जिसके अन्तर्गत काली, तारा, त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, त्रिपुर भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमलात्मिका शक्तियों का अध्ययन किया जाता है। मिथिला परम्परा के प्रमुख वैवाहिक अरिपन कमलदह, बर्रे और बाँस की अध्यक्षीय देवता दशमहाविद्या की कमलात्मिका, त्रिपुरसुन्दरी और भुवनेश्वरी हैं जबकि कोबर शिव–शक्ति (योग–योगिनी) और योगिनी–चक्र का शुद्धतः तान्त्रिक अरिपन है। मथिल तन्त्र–साधना में दशमहाविद्या की पहली महाशक्ति काली और छठी महाशक्ति छिन्नमस्ता की पूजा आज भी प्रसिद्ध है। मिथिला के महान कवि विद्यापति की काली–वन्दना तो मिथिला में देश–गान की तरह सम्मानित है, जिसके गायन से हरेक प्रकार के शुभ और सांस्कृतिक कार्यों का शुभारम्भ होता है। काली बहुतों की कुल–देवता भी है।

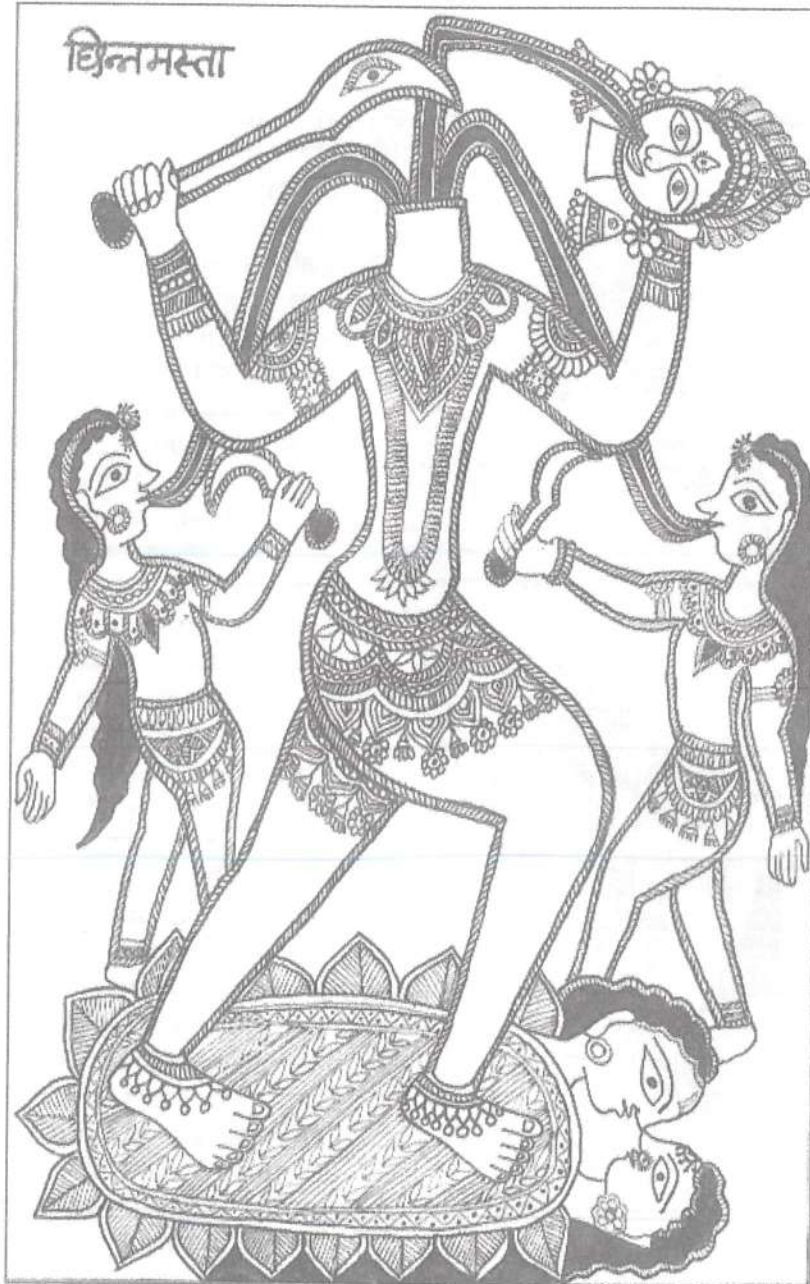


काली संहार की मूर्ति है, इसी कारण इसके साथ सर्वान्तकारी काल का घनिष्ठ सम्बंध है। काली की भयंकर विकराल मूर्ति तथा महाकाल की रुद्रमूर्ति दोनों ही महाप्रलय की द्योतक है, और जो काल के ऊपर प्रतिष्ठित है, वही काली है। काल कहते हैं समय को। हम प्रकृति में नित्य कुछ जनमते, जन्मे हुए को बढते, फलते–फूलते, पकते–झड़ते या नष्ट होते देखते हैं। यह उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश की क्रिया कौन करता है? जो सभी तरह के सजीव और निर्जीव पदार्थों की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश करता है, वही काल है।

कुछ दार्शनिक आकाशतत्व से काल की उत्पत्ति मानते हैं, जबकि कुछ दार्शनिक काल को नित्य और अखण्ड रूप से विद्यमान मानते हैं। काल को रात–दिन, सप्ताह–मास, वर्ष–शताब्दी या घड़ी–प्रहर में बाँट कर देखना तो मनुष्य की कल्पना है, किन्तु काल अखण्ड है। काल के गर्भ से सारे भूत पदार्थों की उत्पत्ति होती है तथा काल के गर्भ में ही सबका लय हो जाता है। कालशक्ति को अतिक्रमित करने का सामर्थ्य किसी प्राणी में नहीं है। काल का दूसरा नाम रुद्र है; शिव ही महाकाल है। पुराणों में काल को 'सर्वान्तकृत यम' भी कहा गया है। संहार की भैरवी मूर्ति ही काल का रूप है। जिस प्रकार एक ही सूर्य से निकलनेवाली किरणें समस्त संसार को आलोकित करती हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की अनन्त शक्तियाँ काली से निसृत हुई हैं और वही समस्त शक्तियों का आश्रय है। माया, दिक् और काल सभी उसी महाकाली की शक्तियाँ हैं।

महाशक्ति काली के समक्ष काल भी तुच्छ और निष्क्रिय है। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए मूर्तिकला और चित्रकलाओं में महाकाल को काली के चरणों के नीचे शव की तरह निश्चेष्ट, निपतित दिखलाया जाता है। प्रलयकाल में महामाया जब विश्व की समस्त शक्तियों को अपने भीतर संगृहित करके अव्यक्त तत्व में लीन हो जाती है तब शिव भी शव हो जाता है। काली की मूर्ति इस संहारतत्व का ही प्रतीक है। सृष्टि से पूर्व, जब आद्यशक्ति के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं थी, हमारा यह संसार घोर कालिमामय अंधकार में डूबा हुआ था। यह अंधकार ही काली आर इस संसार का वास्तविक आद्यरूप है। काली में सभी रूप और रंग समाहित हो

जाता है, इसीलिए वह कृष्णवर्णा है। साधकों का मानना है कि काली के गले में जो मुण्डमाल है, वस्तुतः यह मुण्डमाल नहीं बल्कि सभी विद्याओं की अधिष्ठात्रो देवी काली के गले में वर्णमाला, क्षयरहित अक्षरतत्व है। कहीं–कहीं भगवान श्रीकृष्ण को भी भक्तवत्सला ममतामयी काली के रूप में चित्रित किया गया है।



दशमहाविद्या की छठी महाशक्ति छिन्नमस्ता का भी मिथिला–कला और मिथिला की तान्त्रिक साधना में महत्वपूर्ण स्थान है। चित्र और मूर्ति में छिन्नमस्ता को रति और कामदेव की मिथुनरत जोड़ी पर खड़ी, निर्वस्त्र, शीर्षविहीन और दो ऊर्ध्व बाहुवाली दिखलाया जाता है। उसके एक हाथ में उसका अपना ही कटा हुआ शिर होता है और दूसरे हाथ में खड्ग या कैंची होती है। शिररहित गर्दन से रक्त की तीन धाराएँ निकलती रहती हैं जिनमें से बीच की रक्तधारा का पान उसका अपना ही कटा हुआ शिर करता है और दो धाराओं का पान देवी के बाँए–दाहिने खड़ी उसकी योगिनियाँ, वर्णिनी और डाकिनी करती हैं।

छिन्नमस्ता तान्त्रिक प्रतीकों द्वारा सृष्टि–क्रिया की अभिव्यक्ति है। तान्त्रिक ग्रन्थों में इसके गूढ़ रहस्यों की व्याख्या की गयी है। इन ग्रन्थों में इसे 'विद्युत–रेखा', आद्य प्रकाश की रेखा कहा गया है। प्रलयकाल की गहन कालिमामय अंधकार के बीच जब पहली बार प्रकाश की रेखा छिटकी, प्रकाश और नाद (ध्वनि) की अन्तर्प्रतिक्रिया से परमेश्वर को सृष्टि की प्रेरणा हुई। तान्त्रिक साधक उसी महाशक्ति को छिन्नमस्ता के नाम से जानते हैं।

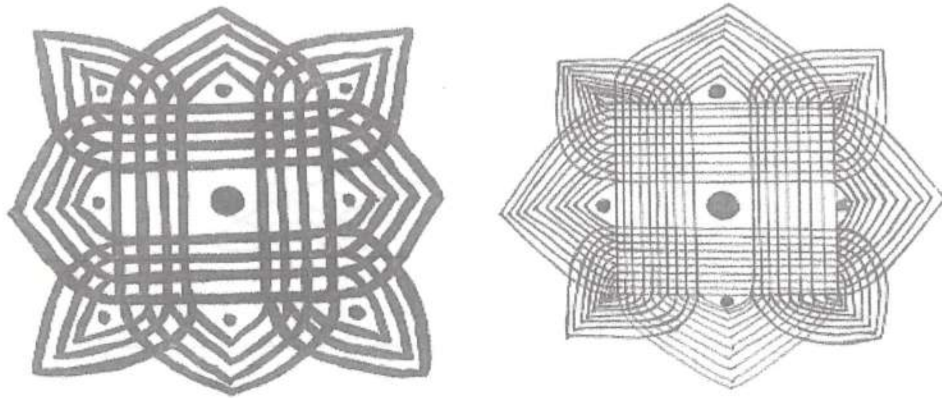
प्रकाश और ध्वनि की अन्तर्प्रतिक्रिया इतनी भयानक और प्रचण्ड होती है कि सृजन का सम्बंध सर्जक से एक झटके में विच्छिन्न हो जाता है। इसी कारण छिन्नमस्ता शिर कटे रूप में चित्रित की जाती है। प्रकृति में हम बादलों के बीच प्रचण्ड बिजली को कड़कड़ात और छिटकते देखते हैं। तान्त्रिकों के मत म, प्रकाश और ध्वनि का यह मिलन ही छिन्नमस्ता है।

मिथिला लोकचित्र में रहस्यमूर्ति छिन्नमस्ता जीवन के स्वतन्त्र अस्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में देखी जाती है। इसका कथासूत्र यह है कि परमेश्वर जितना प्रसन्न सृष्टि करने के बाद होता है, उससे भी अधिक आनन्द उसे तब होता है जब सृष्ट पदार्थ का सम्बंध उससे कट जाय। सृष्टिकर्ता से इस विच्छेदन के बिना सृष्टि का विकास सम्भव नहीं है। इस रहस्य को इस तरह समझा जा सकता है कि मनुष्य या किसी प्राणी के अपनी माता के गर्भ में अंकुरण से भी पूर्व, नर और मादा के बीच भावों का संकर्षण होता है। यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रकाश और ध्वनि के संकर्षण से आकाश में बिजली छिटकती है। नर और मादा के बीच भावों की

अन्तर्प्रतिक्रिया से दोनों सम्भोग के लिए प्रेरित होते हैं। यही अन्तर्प्रतिक्रिया छिन्नमस्ता को उपस्थिति है, जिसकी प्रेरणा से नर–मादा का मिलन और फिर सूक्ष्मदेह के रूप में प्राणी का अपनी माता के गर्भ में अवतरण होता है। माता के गर्भ में पल–बढ़ रहा शिशु काल–विशेष में, एक झटके के साथ योनिमार्ग से बाहर आता है। झटके की यह शक्ति भी छिन्नमस्ता ही है। अपने रक्त–मांस और प्राणों से पोषण करन वाली माता का वह शिशु गर्भ से बाहर आने के बाद भी तब तक उसकी देह का भाग बना रहता है जब तक वह अपनी माँ के साथ नाभिनाल द्वारा जुड़ा रहता है। तर्क के आधार पर, माता और शिशु के बीच का नाभिनाल वैसा ही होता है जैसा कि किसी के धड़ और शिर के बीच में गर्दन। माता और शिशु के बीच के नाभिनाल को जब तक काटा नही जाता तब तक नवजात शिशु स्वतन्त्र अस्तित्व में नहीं आ सकता। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह हुआ कि अपने शिशु के जीवन के लिए माँ अपनी गर्दन काटती है ताकि जीवरूप में वह शिशु स्वतन्त्र अस्तित्व में आ सके। नाभिनाल कटने के बाद स्वतन्त्र अस्तित्व में आए प्राणी को माँ अपना दूध पिला कर उसे जीवन देती है। रहस्यमूर्ति छिन्नमस्ता का यही प्रतीकार्थ है।

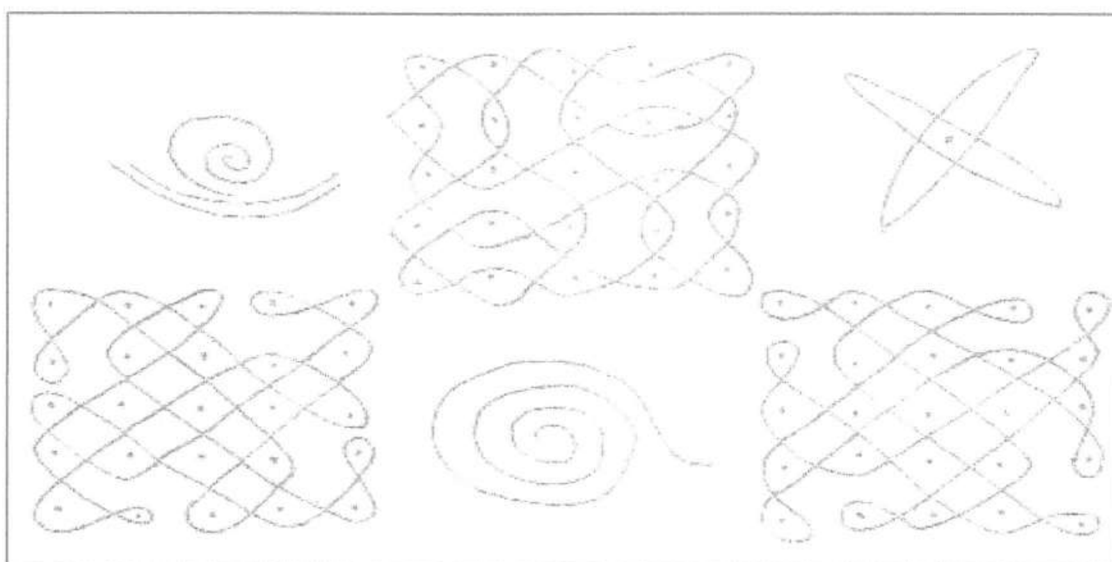
छिन्नमस्ता परमेश्वर की दुर्दमनीय प्रहारक शक्ति है। भयानक मूर्ति काली और छिन्नमस्ता में किंचित अन्तर है। काली को चण्डी कहा गया है और छिन्नमस्ता को प्रचण्ड चण्डी। इस विद्युत शक्ति का संचार हमारे शरीर में फैली असंख्य नाड़ियों में प्रवाहित रक्त के साथ सतत होता रहता है। काली सृष्टि की निरन्तरता के लिए उसका संहार करती है और 'प्राणशक्ति' कहलाती है जबकि पचण्डचण्डी सृष्टिकर्ता से 'सृष्टि' को विच्छिन्न करती है और 'विद्युतशक्ति' कहलाती है। विद्युत शक्ति का प्रवेश मस्तिष्क के विशेष केन्द्र (जिसे तन्त्र साहित्य में 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है) द्वारा उसी समय हो जाता है जब जीव सूक्ष्म रूप में गर्भ में उत्पन्न होता है। इस विद्युत शक्ति का संचार हमारे शरीर में फैली असंख्य नाड़ियों में प्रवाहित रक्त के साथ सतत होता रहता है। लौकिक धारणा में माना जाता है कि जीव के शरीर में प्राणशक्ति के रूप में, धमनियों में प्रवाहित रक्त के रूप में, छिन्नमस्ता जब तक शरीर में उपस्थित रहती है तभी तक कोई पाणी जीवित रहता है। मिथिला–परंपरा में, दशमहाविद्या की छठी महाशक्ति छिन्नमस्ता को ''षष्ठी माता'' और जीववत्सला कहा गया है जिसकी ममतामयी उपस्थिति कोबर–घर और प्रसूति–गृह में शुभ प्रतीक के रूप में अवश्य होती है।

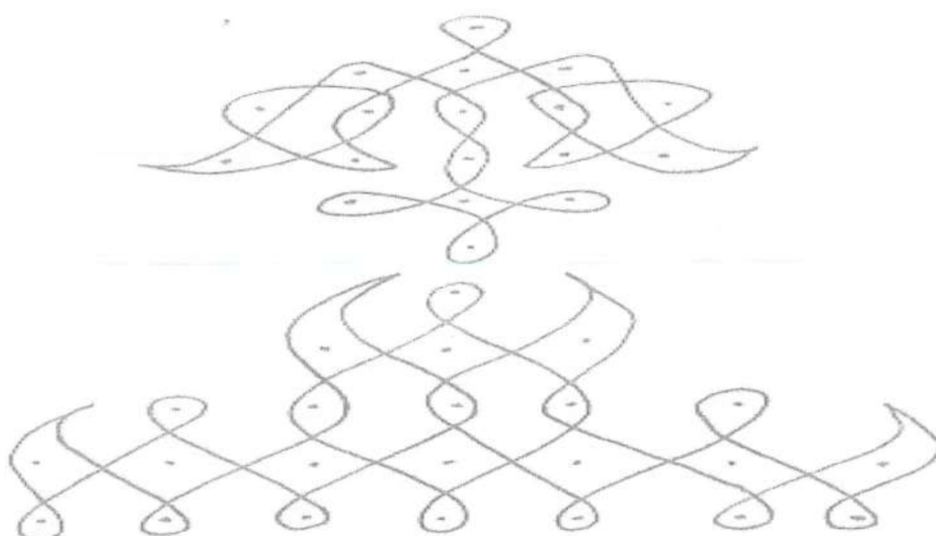
कर्णाट शासन–काल में, कर्णाटवंशी कायस्थो क साथ उनके मूल स्थान की कलासंस्कृति का सौरभ मिथिला तक प्रवाहित हुआ और यहाँ के जन–जीवन में रच–बस गया। इसी सांस्कृतिक प्रवाह में कर्णाटक की लोककला ''कोलम चित्र'' भी आया और यहाँ की अरिपन–कला के साथ मिल कर एक नये स्वरूप के अभ्युदय में उसका सहयोगी बना।

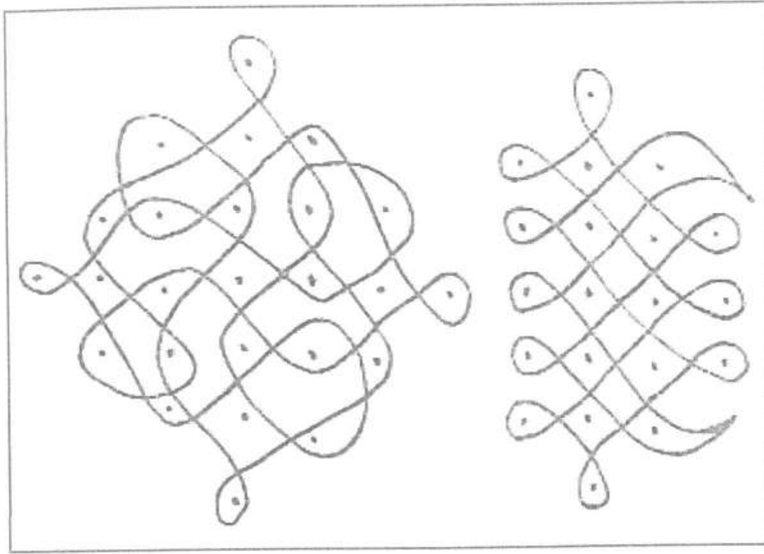


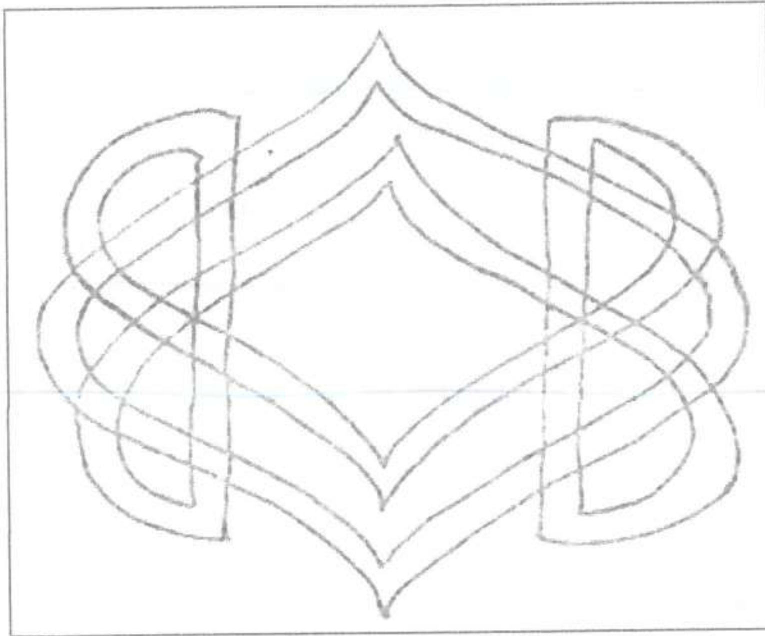
हड़प्पा-चित्रसे कोलम-चित्र(दक्षिण भारत) पुनः मिथिला–अष्टदल

कोलम भारत का एकमात्र अरिपन है जिसकी लिखिया दक्षिण भारत की महिलाएँ नित्य सुबह–शाम अपने आँगन के द्वार और कुलदेवता के आगे करती हैं। जिस प्रकार मिथिला के कवि विद्यापति ने निवास–कक्ष को 'मन्दिर' कहा है, 'माधव जाए केबार छोड़ाओल, जाहि मन्दिर बसु राधा', उसी प्रकार दक्षिण भारतीय महिलाएँ निवास–स्थान को भगवान का मन्दिर मान कर कुलदेवता और गृह के द्वार को, सूर्योदय और सूर्यास्त से पूर्व, कोलम अरिपन से सजाती हैं ताकि घर में सुख–शांति की वृद्धि हो और दुर्भाग्य का नाश हो। कोलम की लिखिया करने के लिए, कुछ दशक पूर्व तक, मिथिला अरिपन की शिल्पियों की तरह ही, चावल के चूर्ण का उपयोग किया जाता था। इस विधि के पीछे मिथिला और दक्षिण भारतीय स्त्रियों के विचार भी एक ही थे कि चावल के चूर्ण से अपने इष्टदेव की आराधना करने के बाद कीट–पतंग उस चावल का भक्षण करके तप्त हों। आज के समय में कोलम के शिल्पी चावल के स्थान पर पत्थर के चूर्ण का प्रयोग करती हैं। अध्ययन की दृष्टि से यहाँ कोलम के कुछ चित्र दिए जा रहे हैं ––









ग्यारहवीं शदी के अन्त में, कर्णाटवंशी नान्यदेव ने मिथिला की राज्य–सत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इतिहासकार उपेन्द्र ठाकुर के अनुसार, जब स जनक–राजतन्त्र का अवसान हुआ और वज्जियन राजसंघ छिन्न–भिन्न हुआ, मिथिला का इतिहास निरन्तर पराजय और परतन्त्रता का नैराश्यपूर्ण कथा बन गया था। अनन्तकाल से प्रोद्‌भासित इसके प्रभा–मण्डल को अन्धकार के ग्रहण ने अपने अवगुण्ठन में समेट लिया था। राजनीतिक रूप से प्रसुप्त और सांस्कृतिक रूप से निस्तेज मिथिला निरुपाय, भू–लुण्ठित हो गयी थी। ऐसी घोर संकटपूर्ण दशा के प्रायः चौदह सौ वर्षों के दीर्घ काल के बाद, मिथिला फिर से कर्णाट विजेता नान्यदेव के शौर्य और प्रेरणादायी नेतृत्व से जागी और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सन्नद्ध हुई। इस प्रकार, कर्णाट राजवंश की स्थापना से मिथिला में नवयुग का अभ्युदय हुआ, राष्ट्र–निर्माण का युग, भव्य गरिमा और महान उपलब्धियों का युग प्रारम्भ हुआ। उन दिनों कर्णाटक से जो जन–समुदाय मिथिला आया और कर्ण–कायस्थ जाति–नाम से संगठित हुआ, उस समूह की गुणवती स्त्रियाँ अपने आँचल में द्रविड़कला के परिमल से वासित चित्र और गीत की अक्षुण्ण निधि लायी जो यज्ञभूमि मिथिला समाज में मिल कर और भी जीवन्त हो उठी। मिथिला में कर्णाटवंश की स्थापना के बाद मिथिला का अपना व्यक्तित्व विकसित हुआ और तभी से सांस्कृतिक–सामाजिक क्षेत्र में इसका अपूर्व योगदान रहा है। बहुत संभव है कि मिथिला–अरिपन के स्वरूप–निर्धारण में कोलम का प्रभाव पड़ा हो।

कर्णाटवंशीय शासन–काल में तान्त्रिक ज्ञान भी बहुत समृद्ध था। राजा रामसिंह देव के समय, सन 1236 ईस्वी में, तिब्बती यात्रो धमस्वामी सिमराओनगढ़ राजमहल में कुछ समय तक ठहरे थे। धर्मस्वामी ने अपने यात्रा विवरण में उल्लेख किया है कि उसे राजमहल में एक तान्त्रिक से भट हुई थी। मिथिला परम्परा की एक कथा के अनुसार, मिथिला की सत्ता पर आसीन होने के बाद, प्रारम्भिक काल में, महाराज नान्यदेव का राजकोश खाली था। इतिहासकारों का कथन है कि नान्यदेव अपने सहायक अधिकारी, सेना, कुटुम्ब–परिवार और प्रजा के संग विजय–अभियान पर दक्कन (कर्णाटक) से बिदा हुए, पाटलिपुत्र पहुँचे, वहाँ से मिथिला के लिए प्रस्थान किए और मिथिला में पुपरी (सीतामढ़ी) के निकट कोइली गाँव में अपना शिविर स्थापित किए। कोश के अभाव में चिंतित राजा अपने शिविर के निकट टहल रहे थे जब उन्होंने एक साँप देखा, जिसके फणा पर कुछ लेख जैसा था। नान्यदेव ने तत्काल शिविर में उपस्थित पण्डितों–तान्त्रिकों को बुलाया। एक पण्डित ने बताया कि साँप के फणा पर लिखा था –– ''रामो वेत्ति नलो वेत्ति वेत्ति राजा पुरूरवा, अलर्कस्य धनं प्राप्य नान्यो राजा भविष्यति।'' (राजा राम, राजा नल और राजा पुरूरवा इस बात के साक्षी हैं कि अलर्क द्वारा संग्रहित और संरक्षित, मिट्टो में गड़े अजस्र धन से नान्य प्रतापी राजा बनेंगे)। देखते–देखते साँप कहीं चला गया। राजा ने उस स्थान की खुदाई करवाई तो वास्तव में अथाह धन प्राप्त हुआ जिससे उसने राज्य–व्यवस्था सुदृढ़ की। बहुत संभव है, तत्कालीन मिथिला के जन–जीवन पर कर्णाटक संगीत के साथ–साथ तन्त्रविद्या का प्रचुर प्रभाव पड़ा हो। लक्ष्मीधर ने भी अपनी रचना ''सान्दर्यलहरी टीका'' में चौंसठ तन्त्रों के अन्तर्गत ''कलासार तन्त्र'' का उल्लेख करते हुए बताया है कि वामाचार प्रधान इस तन्त्र में कर्णों के उत्कर्ष–साधन के उपाय वर्णित हैं।

मिथिला में तन्त्र के प्रसार पर प्रकाश देते हुए इतिहासकार राधा कृष्ण चौधरी ने उल्लेख किया है कि नारायण पाल के अभिलेख स ज्ञात होता है कि कौशिकी क्षेत्र में एक हजार शिव–मन्दिर का निर्माण हुआ था। मिथिला म यद्यपि कि त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की कल्पना बहुत प्राचीन है किन्तु व्यवहारतः देखन में यही आता है कि यहाँ शिव और शक्ति की जनप्रियता विशेष रही है। नवरात्र के अवसर पर अभी भी मिथिला में शक्तिपूजा का विराट रूप देखने में आता है। तन्त्र का प्रभाव यहाँ की वेश–भूषा और साधारण जीवन में आज भी परिलक्षित होता है, जैसे कि व्रतों और शुभ संस्कारों के अवसर पर अरिपन–आलेखन, साँबर पूजा, पाग, त्रिपुण्ड आदि। पाल कालीन अवशेषों के वैशाली, उचैठ, बलिराजगढ़, नौलागढ़, जयमंगलागढ़, अलौलीगढ़, महिषी, पूर्णिया, सहरसा तथा बेगूसराय से प्राप्त होने से यह तर्क और भी दृढ़ होता है। कला की दृष्टि से पाल–शासन काल को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। बेगूसराय जिला क अनेकों गाँव में पाल कालीन मूर्ति बड़ी संख्या में मिली हैं। मिथिला के कई गाँवों में वाराह, सूर्य, गंगा, शिव–पावती, दुर्गा आदि की पाल कालीन मूर्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। जयमंगलागढ़ की सुखासन मुद्रा में शिव–पार्वती की मूर्ति अद्वितीय है। इस मूर्ति में अपना दाहिना हाथ शिव के कन्धे पर रख पार्वती महादेव की बाम जंघा पर बैठी है, शिव अपने बाँए हाथ से पार्वती को आलिंगनबद्ध किए हैं और शिव का हाथ पार्वती के स्तन को छू रहा है। महिषो से भी इस प्रकार की टूटी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ आर खदिरवणी से मिली तारा की मूर्ति सभी पालकालीन हैं। जयमंगलागढ़ और महिषी दोनों प्रसिद्ध तान्त्रिक क्षेत्र माने गए हैं। घनानन्द दास नामक एक प्रसिद्ध तान्त्रिक मिथिला में हो चुके हैं।

कहा जाता है कि तन्त्र के कारण मिथिला का सम्बंध चीन से हुआ था। मिथिला में चीनाचार तन्त्र का अच्छा प्रभाव था। जिस प्रकार मिथिला के सभी पर्व–त्योहार अरिपन के साथ आयोजित होते हैं उसी प्रकार तिब्बती बौद्ध धर्म 'मण्डल' पर आधारित है। शाब्दिक अर्थ में एक वृत्त या गोला, 'मण्डल' तिब्बती बौद्ध धर्म में सम्पूर्ण पवित्र ब्रह्माण्ड के प्रतिनिधित्व का साधन बना। सुविस्तृत अभिव्यंजना, आकार और आयाम के मण्डल बौद्ध धर्म में ब्रह्माण्डिकी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति और दीक्षित साधकों के लिए धर्मोपदेश का साधन है। मण्डल से सम्बंधित धारणा कई रूपों में जानी जाती है और मनुष्य के आद्य रूप की व्याख्या करती है। बौद्ध धर्म में मानव–शरीर भी एक मण्डल है, ब्रह्माण्ड का लघुरूप, जिसका प्रतिनिधित्व शरीर के मध्य में प्रवाहित ऊर्ध्वमुखी प्रवाहिका, मेरु पर्वत का प्रतीक, ब्रह्माण्ड की सांसारिक धुरी के रूप में हुआ है। दृश्य रूप में, मण्डल किसी प्रासाद का प्रतिनिधित्व करनेवाले आकार की सममिति और आकाशीय रूपान्तरण है, वास्तुशिल्प का समावेशी आकृति है, जैसे दिबाल और प्रवेशद्वार, और इस सममिति का प्राधान्य धार्मिक भावना और स्थायित्व का बोध कराता है। इस बिम्बविधान में, तिब्बती कला की अन्य रचनाओं की तरह, मण्डल के मध्य में प्रमुख देवता के चारों ओर सम्बंधित अन्य देवताओं को सम्मिलित किया जाता है; जैसे मिथिला के दशावतार में विष्णु के चारों ओर उसके अन्य अवतार स्थान ग्रहण करते हैं।

बौद्ध ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार, ब्रह्माण्ड के केन्द्र में एक पहाड़ है जो सात समुद्रों और संकेन्द्रित पहाड़ों से घिरा है, जिसके ऊपर स्वर्गादि के विभिन्न स्तर हैं। पर्वत श्रखला से पृथक महासागर है जिसमें चार महादेश अन्तर्विष्ट हैं, अन्तरिक्ष के प्रत्येक चार क्षेत्रा में, सुदूर जम्बूद्वीप के साथ, जो मानवीय परिमण्डल है। यह

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अन्तिम रूप से पत्थर के विशाल दिबाल से घिरा है। मेरु पर्वत की ऊँचाई पर देवताओं का वास है जिसमें अभिभावक देवता और दिव्य वैरोचन सम्मिलित है।

देवता को सार रूप में सम्मिलित करने के लिए मण्डल प्रतीकवाद का विस्तार ब्रह्माण्डीय श्रृंखला से पृथक भी है, एक प्रासाद के रूप में, जिसमें देवता आरोहन करता है, जैसे किसी कोश के भीतर अंकुर फूटता है और बाहरी खोल उस अंकुर का संरक्षण करता है। मण्डल–प्रतीकवाद का यह आयाम तिब्बती मन्दिरों के डिजाइन और उसको स्थापना में निहित है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि मण्डल चेतना को उसकी सम्पूर्णता में अंगीकार करता है, सम्पूर्ण अन्तरिक्षी अवलोकन से मानवोय आवास तक, और मानव–शरीर तक। इस प्रकार पुराकालिक रूपाकार में एक सत्ता का दर्शन कराया जाता है जो सम्पूण जीवन को एक आकार प्रदान करता है।

बौद्ध धर्म का प्रभाव भले ही मैथिल जीवन पर नहीं रहा हो यह सम्भव है, किन्तु बौद्ध धर्म का प्रभाव तो स्पष्ट रूप से मिथिला–तन्त्र के इतिहास पर पड़ा है, और चीन–तिब्बत से मिथिला का सम्बंध इसी माध्यम से हुआ था। मिथिला में शक्ति की प्रधानता के कारण शाक्त तन्त्र, कौलमत और दशमहाविद्या का प्रचार यहाँ अधिक हुआ। दशमहाविद्या की दूसरी महाशक्ति, तारा बौद्ध धर्म में भी प्रमुख देवी है। उसी प्रकार, बुद्ध विष्णु के दस अवतारों में सम्मिलित है। बौद्ध कथाओं में तारा को अवलोकितेश्वर की शक्ति के रूप में चिंत्रित किया गया है। महायान पद्धति में तारा बुद्ध और बोधिसत्वों की माता का प्रतिनिधित्व करती है। वैसे, एक अन्य देवी के रूप में तारा का उल्लेख जैन धर्म में भी सुतारा या सुतारका कह कर हुआ है जो नवम जिन्न सुविधिनाथ की शासन–देवता या शक्ति है।

मिथिलाचित्र में 'तारा' का अध्ययन कोबर–तन्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। तन्त्र साहित्य में तारा को उग्रतारा कहा गया है, क्रोध से तनी भृकुटिवाली देवी, जिसके माथे पर अक्षोभ्य स्थापित है। तन्त्र इस देवी को 'प्रज्ञापारमिता' कहता है, जिसने चेतना के तट को प्राप्त कर लिया हो। तारा का आवाहन सिंह–बाघ, हाथी, अग्नि, सर्प, डाकू, जलप्लावन, समुद्र, भूतादि सभी प्रकार के भयों को शान्त करने के लिए किया जाता था। यह देवी तुरन्त वरदान दे कर इच्छित कामना पूर्ण करती थी और चौबटिया पर सुरक्षा के लिए तत्पर रहती थी। नालन्दा में खुदाई से प्राप्त तारा की एक पतिमा के पृष्ठ भाग में एक मन्त्र उत्कीर्ण था, ''ओउम् तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा'' : तुरा या त्वरा, तुरन्त तारनेवाली, संकट से उद्धार करनेवाली देवी। इसी रूप में जल से तैर कर पार करानेवाली या जलपोतों की रक्षा करनेवाली देवी तारा का उल्लेख हुआ है।

तारा की पूजा वेद जितनी प्राचीन है। तन्त्रों में तारा को उत्तराम्नाय, उत्तर की परम्परा की देवी कहा गया है। बौद्ध धर्म के लोकप्रिय क्षेत्र, काश्मीर, मिथिला और तिब्बत में इसका अच्छा प्रसार हुआ। तोडलतन्त्र में तारा और शिव के सम्बंध पर एक कथा आयी है। पौराणिक कथा है कि अमृत पाने की आशा से देवता और असुरों ने मिल कर समुद्र का मन्थन किया। मन्थन से सर्वप्रथम अमृत के स्थान पर विष प्रकट हुआ जिसकी ज्वाला से दव–असुर क्षोभित होने लगे। मात्र शिव ही ऐसे थे जो विचलित नहीं हुए। एकमात्र वही अक्षोभ्य थे, और अपनी शक्ति तारा के संकेत पर सृष्टि की रक्षा के लिए, विष का पात्र उठा कर पी गए। उस विषपायी शिव की शक्ति तारा है, त्राणकर्ता, निस्तार की देवी, जो सब की रक्षा के उपाय करती है।

वैशाली बौद्ध धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ था जहाँ अपने जीवन काल में, अनेक बार वर्षा ऋतु में, बुद्ध ने वास किया था। उनकी मृत्यु के बाद भी मिथिला या तीरभुक्ति एक महत्वपूर्ण बौद्ध केन्द्र बना रहा और बौद्धों का दूसरा महासम्मेलन वैशाली के नगर में ही आयोजित हुआ। इसी जगह यह पन्थ दो यान में विभाजित हुआ – हीनयान और महायान। मिथिला ने महायान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया जिसके फलस्वरूप इसमें तान्त्रिक पूजा–पद्धति का विकास हुआ। इस पूजा–पद्धति ने वैदिक मत के लगभग समानान्तर एक मत की स्थापना की।

अरिपन और चित्रलिपि या मण्डल की भाषा यद्यपि कि मात्र इसमें दीक्षित लागों के लिए बोधगम्य है, तान्त्रिक साहित्यों ने इसकी चित्रात्मक प्रस्तुति के उद्गम की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अथर्ववेद में यन्त्र और अरिपनों के दैवी रूप की व्याख्या की गयी है। अथर्ववेद काम और भग के लैंगिक सिद्धान्त, देवी के योनिरूप और चित्रलेखन, जिसका प्रयोग पूजा–विधि और अभिचार कर्म (डायनपन) दोनों में होता था, उसका भी मूल था। विदुषी लेखिका पुपुल जयकर के अनुसार, शक्ति और काम–कला के प्रतीक के रूप में, वासनात्मक प्रेम के रूप में, एक तान्त्रिक पाठ में देवी का वर्णन इस प्रकार हुआ है –– ''दो वृत्त देवी के वक्ष के स्तनाग्र हैं, एक वृत्त देवी का चेहरा है, इन तीनों वृत्तों के नीचे गुफा जैसा एक त्रिभुज है; जो कोई व्यक्ति काम–कला के इस मोहक

रूप को जान जाता है वह मात्र देवी के उस मनोहर स्वरूप को ही नहीं प्राप्त करता है, जिसकी कामना सभी करते हैं, वरन वह स्वयं काम–रूप हो जाता है।''

देवी के शक्ति–रूप की व्याख्या अनेक प्रकार से हुई है। शक्ति शब्द संस्कृत के शक् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है समर्थ होना या शक्ति रखना। यह अर्थ किसी प्रकार की क्रियाशीलता के साथ लागू हो सकता है। देखने की शक्ति को दृष्टि–शक्ति कहा जाता है, जलने की शक्ति को दहन–शक्ति या अग्नि की शक्ति कहा जाता है और इसी प्रकार अन्य सभी क्रियाशीलता को शक्ति की क्रिया कहा जाता है। ऐसी सभी प्रकार की क्रियाशीलता अन्ततः उसी आद्य शक्ति का लघु रूप है, जहाँ से सभी प्रकार की शक्ति इस ब्रह्माण्ड में जन्मी थी। सभी वस्तुओं के साथ उसके मूल उद्‌गम के रूप में सम्बद्ध होने के कारण शक्ति को योगिनी कहा गया है। उसी मूल शक्ति को पूजा–आराधना में देवी या अनेक नामवाली माता कहा गया है। जो कोई उस माता की आराधना करता है, वह किसी भ्रान्ति या अचेतन की नहीं, बल्कि परम चेतना की आराधना करता है, जो सभी चेतन–अचेतन रूप की काया है जिसकी सृष्टि भी उसी ने की है, शिव–शक्ति के रूप में : ''या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः।''

भारतीय तन्त्र में शक्ति के बहुत दिव्य और उदात्त स्वरूपों का उल्लेख हुआ है। शक्ति ही विश्व का सृजन करती है, शक्ति ही उसका संचालन करती है और शक्ति ही उसका संहार करती है। शक्ति ही सृष्टि का आदिकारण है। शक्ति ही वह परम तत्व है जिससे इस जगत की उत्पत्ति हुई है। जड़ प्रकृति के पूर्व भी शक्ति थी और शक्ति की इच्छा से ही भौतिक जगत की सृष्टि हुई। इसी कारण से शाक्त दर्शन में न कोई ईश्वरवाद है और न कोई देवी–देवता। यह तो विशुद्ध अद्वैतवाद है, जिसमें आत्मा को प्रकृति से पृथक माना गया है। सृष्टि के अणु–अणु में शक्ति व्याप्त है, वह प्रभुत्व की प्रतिमा और समस्त ज्ञान–विज्ञान का आदिस्रोत है। कुछ विद्वानों का मत है कि तन्त्रवाद का आधार शिव और शक्ति का द्वैत है और वह सांख्य की पुरुष–प्रकृति से भिन्न नहीं है, किन्तु विद्वानों में इस विषय पर मतैक्य नहीं है। ''शक्तिसंगमतन्त्र'', जिसमें विलक्षण ढंग से शक्ति का निरूपण किया गया है, शक्ति को शिव से भी पृथक माना है, अथवा दूसरे शब्दों में, शक्ति को शिव की जननी कहा है –– ''तं विलोक्य महेशानि सृष्टयुत्पादनकारणात्। आदिनाथं मानसिकं स्वभर्त्तारं प्रकल्पयेत्।।'' ''हे महेशानि, अपने रूप को देख कर उस शक्ति ने अपने पति आदिनाथ को जगत की सृष्टि के लिए अपने मन से उत्पन्न किया।''

हिन्दू–तन्त्र के अनुसार, शक्ति अनन्त सृष्टि से होते हुए समस्त भूतादि में उतरती है और ये समस्त भूत शक्ति के ही स्वरूप हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक जीव के भीतर ईश्वरीय तेज का स्फुलिंग रहता है। जीव को इस परम शक्ति द्वारा प्रदत्त बल प्राप्त है, इसी कारण से वह 'जीवात्मा' कहलाता है और परमशक्ति, जो समस्त शक्तियों का मूल स्रात है, 'परमात्मा' कहलाती है। तन्त्र का सिद्धान्त है कि क्रमशः उन्नत हो कर जीवात्मा अनन्तता को प्राप्त कर सकता है। जब कोई पराशक्ति से संयुक्त हो कर उसी में लीन हो जाता है, उसी स्थिति का नाम परमगति या मोक्ष है। हिन्दू–तन्त्र के अनुसार, इस स्थिति पर पहुँचने के लिए कुछ साधना और विधिपूर्वक अनुष्ठान की आवश्यकता होती है जिसका ज्ञान इस शास्त्र के विशिष्ट मर्मज्ञों को होता है।

ज्यामितिक आकृतियों का प्रयोग अभिचार–क्रिया अथवा डायनपन (मारन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि) में उतना ही पुराना है जितना इसका प्रयोग पूजा–विधि में। अथर्ववेद में ऐसे अनेकानेक मन्त्र हैं जो किसी स्त्रो या पुरुष को बाँधने के लिए अथवा बंधन–मुक्त करने के लिए जादू–टोने की क्रिया में चित्र–लेखन का निर्देश करते हैं। आंगिक प्रेम के देवता, कामदेव, अथर्ववेद में वर्णित तान्त्रिक अभिचार की क्रिया और डायनपन की क्रिया, दोनों का अधिष्ठाता देवता है। पुराण में कथा आती है कि शिव ने अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से कामदेव को भष्म कर दिया और रति के बहुत विलाप करने पर व्यवस्था दी कि काम पुरुष के लिंग–रूप में और रति स्त्रो की देह में योनि–रूप से अवस्थित रहगी। तन्त्र में लैंगिक प्रेम और सृजन के देवता काम का विलय मन और शरीर के विनाशक स्मर, शिव, रुद और हर के संग हो गया। तान्त्रिक कर्मकाण्ड की शब्दावली में शिव और काम दोनों को एक समान प्रतीक मिला, दो बीजाण्ड के मध्य हल के फाल की तरह, और लैंगिक रहस्यों से घिरी अनेकों जादूई क्रिया के दोना ही अधिष्ठाता देवता बन गए।

तन्त्र, लोकगीत, लोककथा और चित्रकला में देवी का 'योगिनी' रूप बहुत लोकप्रिय है। 'कोबर' अरिपन की लिखिया करनेवाली शिल्पियों को ''योग–योगिनी'' शब्दावली से अच्छा परिचय है। विभिन्न ग्रन्थों में छिटफुट उल्लेख से संकेत मिलता है कि योगिनी और मातृका शब्द का समय–समय पर समानार्थी शब्द के रूप में प्रयोग हुआ है। कुछ तन्त्र साहित्य योगिनियों की संख्या चौंसठ बतलाते हैं तो कुछ अन्य ग्रन्थ इसकी संख्या एकासी

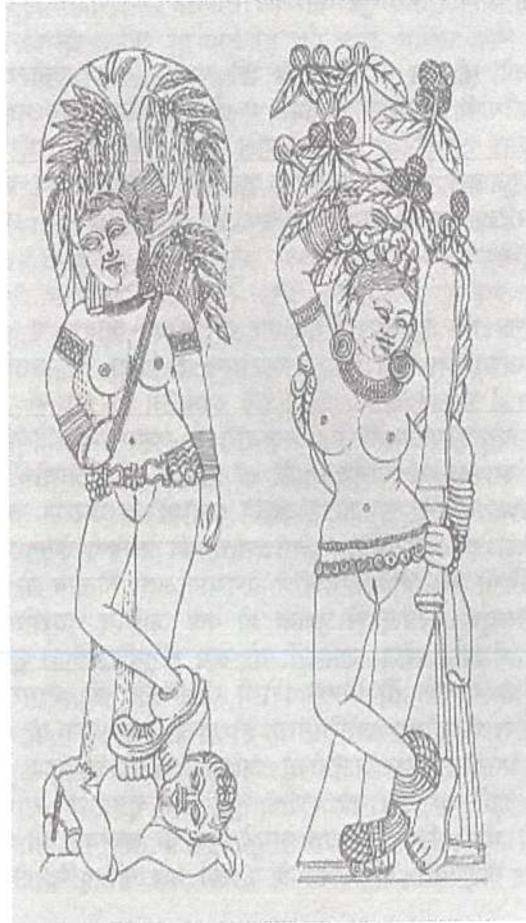
बतलाते हैं। एक तन्त्र–परम्परा चौंसठ योगिनियों को, आठ–आठ के समूह में, अष्टमातृका से व्युत्पन्न बतलाती हैं। बहुत प्राचीन काल से यह सूचना है कि सप्तमातृका, देवियों का स्वतन्त्र समूह, आगे चल कर आठ, नौ या सोलह रूपों में विस्तारित हो गयी और सम्पूर्ण भारत में योगिनी–पूजा लोकप्रिय हुई। यहाँ जानना चाहिए कि मिथिला में विवाह या मुण्डन संस्कारादि में सोलह मातृकाओं के पूजन की परंपरा है। मातृकाओं के उद्गम से सम्बंधित सुप्रसिद्ध "देवी महात्म्य कथा" में उल्लेख है कि सात देवताओं ने अपनी–अपनी शक्ति से, जिसकी विशेषता और शक्ति उन देवताओं के ही समान थी, दानवों के साथ युद्ध के लिए देवी को अर्पित किया था। ये शक्तियाँ ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री और नारसिंही कहलायीं। इन सभी मातृशक्तियों ने दानवी सेना के संहार में देवी चण्डिका को प्रभावकारी सहयोग दिया। पराजित होता दानवासुर शुम्भ–निशुम्भ ने जब दूसरे की शक्ति ले कर युद्ध करती देवी का उपहास किया तब देवी चण्डिका ने उन सातों देवी को अपने शरीर में आत्मसात कर लिया और दानवासुर को मार गिराया।

चौंसठ योगिनियों की मातृका से व्युत्पत्ति की परंपरा का उल्लेख अग्नि पुराण में हुआ है। ये आठों मातृकाएँ ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवो, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा और महालक्ष्मी हैं। इन आठों मातृकाओं से, आठ–आठ के समूह में, चौंसठ योगिनियों की व्युत्पत्ति कही गयी है। सभी समूह की योगिनियों का वर्णन उस कुल के आधार पर हुआ है जिससे उसकी व्युत्पत्ति हुई है। चुँकि मातृका स्वयं देवी का निस्सरण और ईश्वरीय स्त्रो–तत्व की छवि है, इसलिए उनसे प्रकट होनेवाली योगिनियाँ भी, उससे सम्बद्ध रहने के कारण, देवी, अर्धदेवी या महादेवी की अनुचर कही गयी हैं।

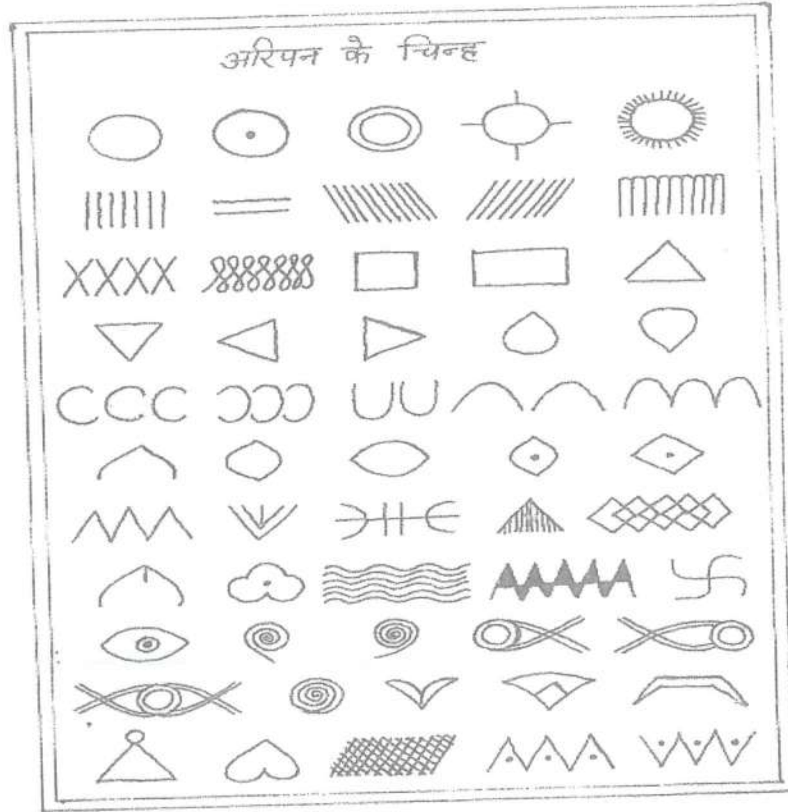
यद्यपि कि तन्त्र–मन्त्र का इतिहास मिथिला के लोक–जीवन में बहुत प्राचीन है, किन्तु 'डायन' शब्द तिब्बती 'डाकिनी' शव्द का परिवर्त्तित रूप है जो बज्रयान के ग्रन्थ में 'डायणि' रूप में उल्लिखित है। इस शब्द का तात्पर्य तान्त्रिक साधिका से है जो सहज ज्ञान की स्वामिनी के रूप में या स्वतः योग–साधना में प्रवृत्त रहती है अथवा किसी साधक को प्रवृत्त करवाती है। बज्रयान में डायन को देवी कह कर सम्बोधित किया गया है। डायन स्त्रो को उसकी गुह्य श्मशान के अनुष्ठानादि के कारण लोग प्राचीन काल से ही भय की दृष्टि से देखते हैं और डायनों के द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रयोगों के कारण समाज उनको गर्हित मानता है। आगे चल कर योगी और योगिनियों के पारस्परिक कामरूपता का सम्बंध ऐसा प्रवल हुआ कि वियोगावस्था में योगी (जोगी) और योगिनी या जोगिनी की अभिलाषाजन्य प्रणयाकुलता विलाप के रूप में प्रकट होने लगी। इस प्रकार योग और गुह्य साधना की सम्पूर्ण परंपरा से पृथक हो कर जोगिन भवसाधना की विरहिनी का उपमान हो कर अपने प्रियतम को जोगी रूप में और स्वतः जोगिनी के रूप में परिकल्पित हुई, जिसका दिग्दर्शन मीरा के पदों में होता है। मिथिला के लोकगीत में ऐसे ही किसी जोगी से मिलन की कामना में साधिका जोगिनि बनने के लिए कटिबद्ध है –– "जोगिया संग मे होयब जोगिनिया हो रामा। वन वन के हम लकड़ी बटोरबइ, आओरो धुनिया रमयबइ हो रामा।। एक त' जोगी, दोसर रसभोगी, आओरो तेसरे छयलबा हो रामा।।" इस क्रम में तन्त्रसाधना को जोगिन तो बाद में बौद्ध तान्त्रिक रूप को पूर्णतः भूल कर कृष्ण की गोपी बन गयी और वैष्णव भाव–साधना में रम कर भक्ति में लीन हो गयी, किन्तु डायन अपने पूर्व के कलेवर को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखते हुए अपनी गुह्य तन्त्र–साधना एवं मारण, मोहनादि अभिचारों के कारण भय की दृष्टि से देखी जाती रही।

भारतीय वाङमय, अध्यात्म, लोककला, लोकगीत, तन्त्र और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में 'योगिनि' एक प्रख्यात शब्द है। अधिकांश साधक आर ज्ञानी मातृका, देवी, शक्ति और योगिनी में किसी प्रकार का अन्तर किए बिना विभिन्न क्रियाकलाप की संज्ञा मात्र मानते हैं। कौलमार्ग के उपासक योगिनी को विशिष्ट देवी और कौलमार्ग की सरक्षिका मानते हैं। कुलाणव तन्त्र योगिनी के तीन रूप मानते हैं –– संरक्षिका, साधिका और भोग–यक्षिणी। मतोत्तरतन्त्र योगिनी को विश्व के सृजन और ध्वंश करनेवाली शक्ति मानता है। कौलज्ञाननिर्णय के मतानुसार, अन्तरिक्ष (द्युलोक) में वास करनेवाली देवी जब पृथ्वी पर आती है तब अनेक प्रकार के रूप धारण कर योगिनी बन जाती है। योगिनी और भैरव जल पर भी वास करते हैं। मिथिला में यागिनियों के अनेक रूप प्रचलित हैं। कोबरतन्त्र के सर्वश्रेष्ठ देवता 'योग–योगिनी' हैं जो शिव–पार्वती का नामान्तर है। विद्यापति के गीतों में योगी स्पष्टतः शिव को कहा गया है –– "जोगिया हमर जगत सुखदायक, दुःख केकरहु नहि देल।" दन्तकथा है कि शिव अपने विवाह से पूर्व अपनी होनेवाली पत्नी (पार्वती) का शचि–आचार पता लगाने के लिए, पार्वती को देखने के उद्देश्य से, वेष बदल कर, योगीरूप में गए। पार्वती ने अन्तर्हित शिव को पहचान लिया और उनकी सन्दरता देख कर मूर्च्छित हो गयी। सभी लोग दौड़े। पार्वती की दशा देख कर किसी ने कहा, वैद्य–चिकित्सक को बुलाओ। किसी ने कहा, अभी तो पार्वती भली–चंगी थी, यह उसी योगी की करतूत है; उसीको पकड़ कर लाओ। विद्यापति कहते हैं –– "भनहि विद्यापति सुनू वृजरानी, आग माइ जोगिया ने थिका, थिका त्रिभुवन दानी।"

योगीहृदयतन्त्र में शिव कहते हैं, 'केवल शिव ही योगिनी के हृदय को जानता है, जो परम शक्ति है।' मिथिला के लोकगीतों में योगिनी को भ्रमणशील गोदनहारिनी (देह पर गोदना–चित्र बनानेवाली घुमंतू स्त्री), संबरतन्त्र की दीक्षा देनेवाली बहुरूपिया स्त्री कहा गया है जो उत्तर के देश, हिमालय के पहाड़ों से आती है –– ''उतरहि राज सँ अयलइ एक नटिनिञा रे जान, जान, बइसि रे गेलइ चन्दन बिरिछिया रे जान। घर सँ बाहर भेली सुन्दरी पुतहुआ रे जान, जान, हमहूँ रे साँबर गोदना गोदाएब रे जान।'' स्त्रियों की देह पर 'गोदना' चित्र बनानेवाली रहस्यमयी गोदनहारिनी को कहीं–कहीं वन–योगिनी या 'वन–यक्षिणी' भी कहा गया है। प्रस्तर प्रतिमाओं में इसके कई प्रमाण मिलते हैं।

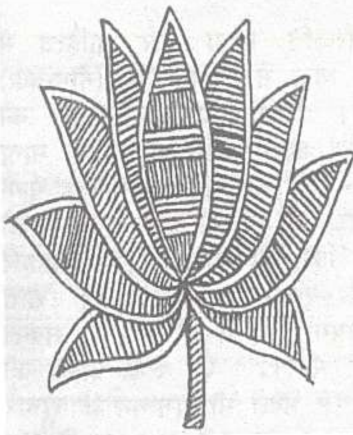


अरिपन के चिन्ह और प्रतीक



भारतीय कला–परंपरा में और तान्त्रिक यन्त्रों में जिन चिन्हों या प्रतीकों के प्रयोग होते हैं उनका मुख्य स्रोत यद्यपि कि सिन्धु–घाटी की कला है, किन्तु उनके प्रतीकार्थों का विकास परवर्ती भारतीय वाङमय की देन है। अध्ययन से यह भी पता चलता है कि मिथिला की अपनी लिपि, मिथिलाक्षर या तिरहता की वर्णमाला भी तान्त्रिक चिन्हों पर आधारित है। इन प्रतीकों में ज्यामितिक या तान्त्रिक चिन्ह, गणितीय चिन्ह, वानस्पतिक चिन्ह और कुछ जैविक चिन्ह प्रमुख हैं। इन चिन्हों में कमल, पुरइन, मत्स्य, शंख, हाथी, शुक, पान, भ्रमर, बाँस, नयन, सर्प, कछुआ, स्वस्तिक, सूर्य, चन्द्र, नवग्रहादि और योनि के प्रयोग बारम्बार होते हैं।

कमल दिव्यता का द्योतक है। सुगन्धि में सनी कमनीयता और लालित्य कमल के प्राकृतिक गुण हैं। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन, तन्त्र, कला और समस्त वाङमय में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। कमल की दिव्यता से वैसे तो प्राचीन और मध्ययुगीन अधिकांश कवि प्रभावित हुए, किन्तु सन्त कवि तुलसीदास इसकी दिव्यता से ऐसे प्रभावित हुए कि अपने महाकाव्य "रामचरितमानस" में उन्होंने तीन सौ बावन बार कमल उपमान का प्रयोग कर दिया –– "जनकसुता जग जननि जानकी, अतिसय प्रिय करुनानिधान की। ताके जुग पद कमल मनाबउँ, जासु कृपा निरमल मति पाबउँ।।"



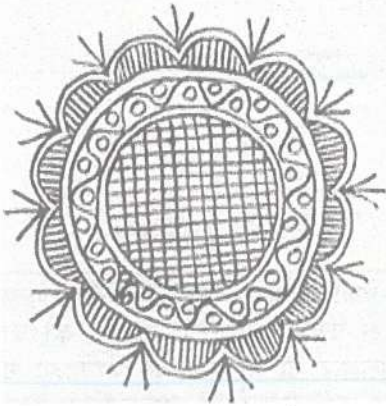
जयदेव का "गीतगोविन्द" तो सहज ही कमल के पराग से सम्पृक्त है –– "दिशि दिशि फिरति सजलकणजालम्। नयन नलिनमिव विगलितनालम्।।" गीतगोविन्द के चतुर्थ सर्ग में विरह–विदग्धा राधा की एक सखी कृष्ण को मनाते हुए कहती है कि "राधा के नयन नाल–रहित कमल जैसे हो गए हैं। अश्रुकण से युक्त उसके नयन लगते हैं जैसे जलकण से युक्त कोई नीलकमल हो। अश्रु भरे नेत्रों से राधा निरन्तर आपकी राह देख रही है, पता नहीं आप कब किधर से आ जाँय।"

महाकवि विद्यापति की पदावली में 'कमल' कुछ अधिक हो आंगिक है –– ". . . . . ससरि सयनसिम हरि गहलहुँ गिम, मुखे मुखे कमल कमल मिलु रे।" "(स्वप्न में)कृष्ण मेरी सेज पर आए और (मुख) कमल से कमल मिल गया।"

कमल का प्रयोग मात्र चित्रकला ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य, तन्त्र–साहित्य, वास्तुकला, अन्यान्य विविध कला और आध्यात्मिक चिन्तन में हुआ है। कमल दिव्य सौन्दर्य, सुख–शान्ति और समृद्धि का प्रतीक है। अनेक पौराणिक और बौद्ध देवी–देवता कमल को अपने हाथ में धारण करते हैं। सुन्दरता और समृद्धि की देवी लक्ष्मी को 'कमला' कहा गया है।

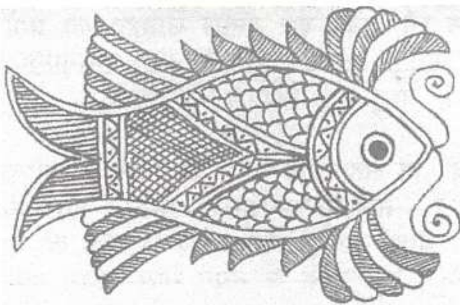
पुरइन कहते हैं कमल के पत्ते को। कमलासन पर बैठी भगवती की पादासनी है पुरइन। मिथिलाचित्र में पुरइन एक दिव्य पात्र, अर्घ का पात्र और देवताओं के निमित्त स्थान के रूप में चित्रित होता है। चाहे किसी भी प्रकार का धार्मिक या सांस्कारिक कर्मकाण्ड हो, पुरइन की लिखिया अनिवार्य होती है। परइन प्रकृति का द्योतक है और स्त्रो का सकल प्रतीक कहा गया है। पौराणिक विश्वास के अनुसार, एकार्णव महाप्रलय की स्थिति मे भी, जब पृथ्वी पूर्णतया जलमग्न हो जाती है, पुरइन ब्रह्माण्ड–सागर में डूबता नहीं है, दहाता ही रहता है जिस पर फिर से जीवार्त्तन होता है।

रामचरितमानस'' के कवि को पुरइन–दर्पण में अपने आराध्य की छवि दिखती है –– ''राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि विलास मनोरम।। पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।।'' ''श्रीराम और सीता का यश अमृत समान जल है। उस जल में उठनेवाले तरंग महाकाव्य की उपमा हैं और काव्य की युक्ति सुन्दर मणि उत्पन्न करनेवाले मनोरम सीप हैं।''



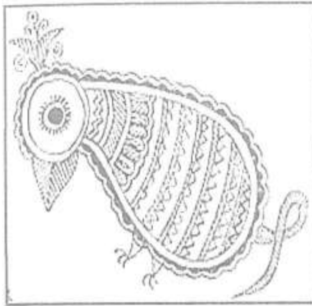
''गीतगोविन्द'' के रचयिता जयदेव ताजे पुरइन के पत्तों से राधा–कृष्ण की अभिसार–सज्जा का विन्यास करते हैं – ''सजलनलिनीदलशीतलशयने, हरिमवलोकय सफलय नयने।'' मानिनि राधा को उसकी सखी समझाते हुए कहती ह, ''हे सखि राधे! जलकण से युक्त ताजे पुरइन के पत्ता से सेज तैयार करके तुम्हारी प्रतोक्षा में (भगवान) व्याकुल बैठे हैं। उन्हें देख कर अपने नयनों को सफल बनाओ।

प्रकृति और शृंगार के अमर कवि विद्यापति पुरइन–पत्र को विरह–विदग्धा नायिका की लेखन–सामग्री के रूप में प्रयोग करते हैं – ''कुसुमित कानन कुंज बसी, नयनक काजर घोरि मसी। नख सँ लिखलि नलिनि दल पात, लीखि पठाओल आखर सात।।'' वसन्त का आगमन होते ही समस्त वनांचल पुष्प और मंजरि से सुवासित हो गया है। ऐसे समय में अपने प्रियतम से दूर विरह–कातर प्रेमिका उद्वेगातिरेक में अपने प्रिय को पत्र लिखना चाहती है, किन्तु सघन कुसुमित वन में कागज और मसि–कलम का मिलना कहाँ सम्भव है? अगत्या, उसने पुरइन के कोमल पत्ते का ही कागज बनाया, अपनी आँख के कोर से काछ कर काजल निकाला और उसे मसि बना कर, उगली के नख से अपने प्रिय को पत्र लिखा, सात अक्षरों का पत्र।



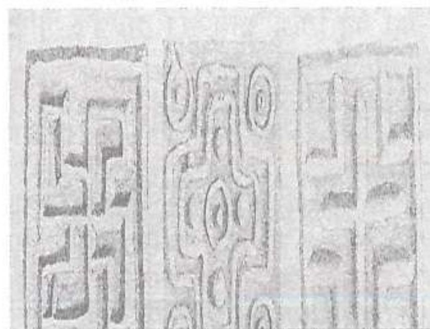
मत्स्य का मिथिला संस्कृति, कला और साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। कामदेव के ध्वज में स्थित मीन (मीनध्वज) शाश्वत प्रेम का प्रतीक है। सिन्धु घाटी–संस्कृति की कला–पट्टिकाओं में उत्कीर्ण सबिन्दु मत्स्य योनि का प्रतीक माना गया है। मैथिल समाज में 'माछ–भात' भोजन को लौकिक परम सुख माना गया है। मैथिल समाज की स्त्रियाँ तभी तक मछली का उपभोग करती हैं जब तक कि वह सधवा हा। इस प्रकार एक मैथिलानी के लिए माछ सुख–सुहाग का प्रतीक है। सन्त महाकवि तुलसीदास ने मन की उपमा मीन से की है –– ''सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन। नाम सप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहु किए मन मीन।।'' ''जो सभी प्रकार की कामना (भाग और मोक्ष) से मुक्त और मात्र श्रीराम–भक्ति के रस में लीन हैं, ऐसे भक्त भी रामनाम के सुन्दर प्रेमरूपी अमृत के सरोवर में अपने मन को मत्स्य की तरह लगाए रहते ह (अर्थात वे नामरूपी सुधा का निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं, कभी भी उससे पृथक नहीं होना चाहते हैं)।''

पौराणिक साहित्यों में विष्णु का प्रथम अवतार मत्स्यरूप कहा गया है। 'गीतगोविन्द' के कवि मत्स्यरूप विष्णु का गुणगान करते हुए कहते हैं –– ''प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्, विहितवहित्रचरित्रमखेदम्। केशव,



धृत मीनशरीर, जय जगदीश हरे!'' ''हे केशव, मत्स्यावतारधारी जगदीश, आपने मत्स्यावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया और अनायास ही नौका बने। आपकी जय हो!''

स्वस्तिक जितना महत्वपूर्ण हड़प्पा या सिन्धु घाटी–सभ्यता में था उतना ही सम्मानीय आर्य–सभ्यता में रहा और अधुनातन समाज में भी उसका सम्मान वैसा ही बना हुआ है। मैथिल समाज में स्वस्तिक का व्यापक प्रयोग प्रचलित है। इसका प्रयोग मन्त्ररूप में और चित्ररूप में शुभ और शान्ति के लिए किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि इसका मन्त्र और प्रतीक हृदय और मन को मिलानेवाला प्रभाव करता है। गृह–निर्माण के समय, वर–बधू के परिणय–काल में, कृषिकार्य में, यात्रा प्रारम्भ करते समय, व्यापार में, सन्तानोत्पत्ति के समय और षोडस संस्कारों में स्वस्तिक मन्त्र और चिन्ह का प्रयोग बहुत



प्राचीन काल से प्रचलित है। मिथिला चित्र–परंपरा में स्वस्तिक प्रतीक को श्रीगणेशजी और उनकी दो पत्नी, सिद्धि और बुद्धि का समन्वित रूप कहा गया है। शंखयुक्त स्वस्तिक को 'लक्ष्मी–गणेश' का रूप और समृद्धि का मार्ग खोलनेवाला 'साभाग्य स्वस्तिका' कहा गया है। मन्त्ररूप में स्वस्तिक का प्रयोग मिथिला मे ''दूर्वाक्षत मन्त्र'' के लिए किया जाता है।



भाुक या **सुग्गा,** लाल चोंचवाले हरे रंग के शुक को प्रेममय जीवन का प्रतीक कहा गया है। प्रेम और सुन्दरता के देवता कामदेव के मुकुट में निवास करनेवाला शुक सहज आंगिक प्रेम का प्रतीक है, रागात्मकता का द्योतक है। मिथिला अरिपन के वैवाहिक प्रसंगों में सुग्गा का चित्रण किसी न किसी रूप में होता ही है। वैवाहिक अरिपनों में, खास कर कोबर और बाँस अरिपन में तो इसका विधिक प्रयोग होता है। स्वतन्त्र रूप में, एक यन्त्र के तौर पर, मिथुनरत युग्म शुक, **लटपटिया सुग्गा,** अनिवार्य रूप से कोबर–घर की भित्ति पर लिखा जाता है।

शंख अटल निश्चय, सम्पदा, प्रभुत्व और पारम्भ का प्रतीक है। मिथिला चित्र की गुणवती शिल्पी स्त्रियाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी को अपनी बहन और उसके भाई शंख को श्रीहरि विष्णु का साला मानती हैं। शंख जहाँ कहीं भी जाता है, लक्ष्मी अपने भाइ को खोजते–खोजते वहाँ अवश्य जाती है। इसी कारण से शंख को 'नित्य–लक्ष्मी' और अक्षय धन का प्रतीक कहा जाता है। लोकमत में एक कहावत बहुत प्रसिद्ध है, ''शंख बाजे, बलाय भागे।''

पान मिथिला कला और संस्कृति में स्नेह, आदर और कोमल भावना का प्रतीक है। मैथिली लोकगीत में पान को कौटुम्बिक प्रेम का प्रतीक कहा गया है। 'सामा–चकेबा' के गीतों में बहन–भाई के प्रेम का उल्लेख पान के माध्यम से किया गया है – ''पनमा जे खएले रे भइया, पीकिया नेरौले ओही ठाम। ओही बाटे बहि गेल रे भइया, गंगा रे जमुनमा के रे धार।'' ताम्बूल षोडशोपचार की एक विधि भी है। तन्त्र में पान को मन्त्र का वाहक कहा गया है।

भौंरा को भारतीय कला और साहित्य में मानव–मन की भिन्न–भिन्न स्थितियों का द्योतक कहा गया है। रामचरितमानस के कवि भक्ति–भाव में डूबे मुनिजनों के मन को भौंरा कहते हैं –– ''पद राजीव बरनि नहि जाहीं। मुनि मन मधुप बसहि जेन्ह माहीं।। कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा।।'' मैथिली लोकगीत में भौंरा को प्रेम–लोलुप व्यक्ति के रूप में गाया गया है।

सप को धैर्य, उत्कट अभिलाषा, प्रचुर भौतिक सम्पदा और कामातिरेक का प्रतीक कहा गया है। विद्यापति के गीतों में सर्प कामोत्तेजना के द्योतक के रूप में भी देखा गया है– ''मदन भुजंगम दंसल कान।

बिनहि अमिअ रस की करब आन।।'' ''श्रीकृष्ण को काम रूपी सर्प ने डस लिया है। अमृत–रस (राधा) के बिना और किसी रस से उसे क्या लाभ हागा?'' तन्त्र में सर्प को भी मन्त्र का वाहक कहा गया है।

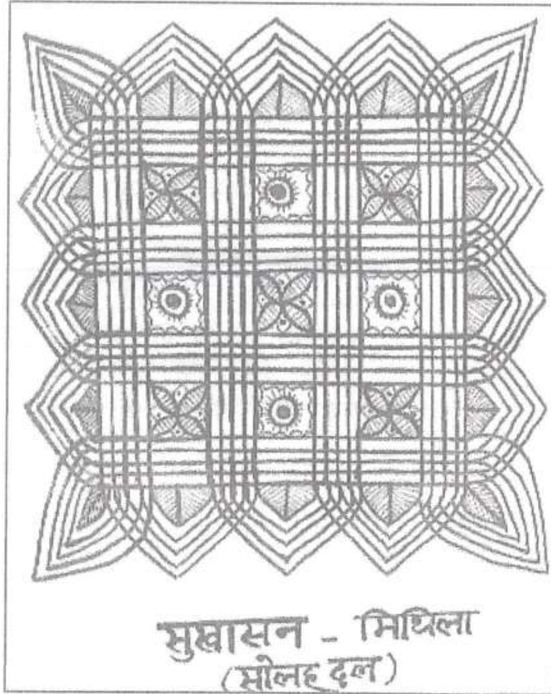
हाथी बुद्धिबल, समृद्धि और सामाजिक सहजीवन का प्रतीक है। इसका दर्शन सदैव शुभ कहा गया है।

बाँस मिथिला चित्रशैली का एक विशिष्ट आलेखन है जिसकी लिखिया कोबर अरिपन के अन्तर्गत और स्वतन्त्र रूप से भी की जाती ह। दैनन्दिन जीवन में अनेक उपयोगिता के कारण बाँस को जीवन और मृत्यु दोनों का साथी कहा गया है। इसकी सदाबहार वृद्धि, हरीतिमा और सघन उत्पत्ति के कारण बाँस को वंश–वृद्धि के प्रतीक के रूप में भी जाना जाता है। वैवाहिक चित्र 'कोबर' के दो प्रमुख तत्व हैं, बास ओर पुरइन। यहाँ लोकार्थ में बाँस पुरुष का द्योतक है और पुरइन स्त्री का। कोबर चित्र में बाँस का मध्यतन मख्य पुरइन से आच्छादित दिखलाया जाता है, जिसका अर्थ ह वर–बधू का नित्य सायुज्य। तान्त्रिक दृष्टि से बाँस के वन को आकाश का प्रतीक कहा गया है।



नयन पतीक का प्रयाग कोबर–घर के चित्रों में संरक्षक यन्त्र की तरह होता है। कोबरघर के चारों कोण में ''नयना योगिनी'' की लिखिया अनिवार्य रूप से की जाती है। नयना योगिनी एक महत्वपूर्ण तान्त्रिक–मान्त्रिक शक्ति है जो वर–बधू के सुख–सौभाग्य और कोबरघर के समस्त चित्रों की रक्षा हेत सतत सजग रहती है। भारतीय साहित्य में नयन से सम्बंधित उपमा और रूपकों की भरमार है। प्रकृति के उत्कृष्ट उपहार सूर्य, चन्द्र, कमल, भौंरा, खंजन, चकोर, मत्स्य, हाथी जैसे उपमानों से उपमित होने के बाद भी 'नयन' उपमा के मामले में अतुलनीय है। अथर्ववेद के ऋषियों ने नयन में शाश्वत प्रेम और शान्ति की पृष्ठभूमि और आत्मा का प्रवेशद्वार देखा –– ''अक्ष्यौ नौ मधुसंकाश अनीकं नौ समंजनम्। अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नो सहासति।'' 'हे प्रिय, तुम्हारे और मेरे नयन मधुर भाव से युक्त हों। दोनों के नयन के अगले भाग में अंजन लगे और तुम मुझे अपने हृदय में धारण करो। हम दोनों समान मनवाले हो जाँय।''

मिथिला अरिपन में ज्यामिति के अनेक चिन्हों का प्रयोग होता है। इन चिन्हों में बिन्दु, वृत्त, अर्धवृत्त, ऊध्वमुख त्रिभुज, अवाडमुख त्रिभुज, चौकोण, षट्कोण, अष्टकोण, रेखाएँ, क्रॉस प्रमुख है। इन चिन्हों के परंपरागत तान्त्रिक अर्थ हैं। इस विषय में, पुस्तक के अन्त में, श्रीमिथिलाक्षर यन्त्र लेख के अन्तर्गत व्याख्या की गयी है। जैसा कि सर्वविदित है, मिथिला लोकचित्र में कुछ वर्ष पूर्व तक मात्र अलिखित कुलाधारित शिक्षण–पद्धति प्रचलित थी। चित्रादि प्रसंगों पर कोई लिखित व्याख्या नहीं रहने के कारण गूढ़ तान्त्रिक अर्थ के विलुप्त होने का खतरा बहुत पहले से इस चित्र–परंपरा को प्रभावित करता रहा है। यह लेखकद्वय यद्यपि कि विषय और अरिपनों के स्वरूप को बनाए रखने और बचाने का बहुत प्रयास किया है किन्तु कई ऐसे प्रसंग हैं जिनकी व्याख्या करना अब असंभव है। कई अरिपन अब दुर्लभ हैं। ऐसे ही कुछ अरिपनों/यन्त्रों में ''सुखासन'' भी है। सुखासन का उल्लेख मात्र एक जगह, मणि–पर्वत (बाँस के शीर्ष पर सहस्रदल कमल, उससे भी ऊपर विंशतिदल या बीस हजार दलवाला कमल, जिसके ऊपर मणिपद्म, मणिपद्म पर सुखासन उस पर विराजते हैं नीलसरस्वती के साथ शिव, जो वास्तव में 'योग–योगिनी'हैं) पर 'शिव–शक्ति' के आसन के रूप में होता है।


सुखासन - मिथिला
(सोलह दल)

यन्त्र और अरिपन

यन्त्र का कोशगत अर्थ होता है 'नियन्त्रण में करना', 'यन्त्रयते नियम्यते इति यन्त्रम्', उपकरण, मशीन आदि। तन्त्र की भाषा में यद्यपि कि इसका विशेष अर्थ होता है तथापि वह अर्थ भी कोशगत अर्थ से मिलता–जुलता है। तन्त्रविद्या में यन्त्र किसी देवता–विशेष के प्रतीक स्वरूप अथवा उसका आवास माना गया है जिसका निर्माण दैहिक–दैविक दुःख पर नियन्त्रण करने हेतु अथवा उससे त्राण पाने के लिए किया जाता है। मिथिला चित्र–परम्परा में अधिकांश अरिपन और कुछ आकृतिमूलक चित्र एक तरह से यन्त्र–स्वरूप बनाए जाते हैं। आधुनिक समय में यद्यपि कि मिथिला चित्र का प्रयोग दैहिक दुःख से त्राण पाने के लिए देखने में नहीं आता है, किन्तु सन 1950 तक के दशक में इस तरह के यन्त्रों का प्रचलन था। आज भी नवरात्र के अवसर पर, कलश–स्थापन के दिन, हिन्दू गृहस्थ अपने निवास–कक्ष के द्वार पर, दुर्गा का चित्र बनाते हैं। इस चित्रण के पीछे यही उद्देश्य रहता है कि दुर्गा दुर्गति का नाश करे।



अरिपनों के चिकित्सकीय उपयोग पर छिटफुट प्रयोगों के समाचार मिलते रहते हैं। यहाँ ऐसे ही एक प्रयोग का उल्लेख करना समीचीन होगा। यह लेखक सन 2005 में इटली के जेनोवा शहर में अरिपनों की कार्यशाला चला रहे थे। उस कार्यशाला का आयोजन लेखक की मित्र, प्राच्यविद्या–विशेषज्ञ, इमैनुएला पटेल्ला ने किया था। कार्यशाला में जेनोवा स्थित शिशु अस्पताल के चिकित्सकों का दल भाग ले रहा था। कार्यशाला का उद्देश्य अरिपनों के चिकित्सकीय प्रभाव का अध्ययन करना था। इस प्रयोग का परिणाम काफी उत्साहवर्द्धक रहा। चिकित्सकों ने अनुभव किया कि अरिपनों का अभ्यास करते हुए देखनेवाले रोगी बच्चों के मन पर बहुत अच्छा असर पड़ा। इस प्रयोग को पुनः 2008 में दुहराया गया जब इस लेखक के साथ शशिबाला ने भी जेनोवा में कार्यशाला का आयोजन किया। इस बार भी प्रयोग के परिणाम अनुकूल थे। इस तरह के प्रयोगों के आयोजन से कई प्रकार के शुभ परिणाम देखने में आते हैं किन्तु इस विषय में जितने प्रयास की आवश्यकता है उसका प्रबन्धन उतना ही कठिन है।

वदिक मतानुसार, जिस प्रकार 'श्रीयन्त्र' को यन्त्रराज और महात्रिपुरसुन्दरी का विलास–कक्ष माना गया है, 'सर्वतोभद्र यन्त्र' को गौतमीय तन्त्र के अनुसार दृष्ट–अदृष्ट, वर्त्तमान और अनागत सभी प्रकार के फलों का प्रदाता कहा गया है, उसी प्रकार मिथिला चित्र के समस्त अरिपन कौलमताधारित किसी न किसी प्रकार के यन्त्र हैं जो लौकिक पूजा–आराधना के भाव से निर्मित होते हैं। भिन्न–भिन्न अरिपन–यन्त्र विभिन्न प्रकार के कल्याण और त्रिपद पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ और काम) के प्रदाता कहे गए हैं। वैदिक तन्त्र और कौलमत के चतुःषष्ठी तन्त्र, बौद्ध तन्त्र, जैन तन्त्र, इस्लामिक तन्त्रों में यन्त्र–निर्माण के अनेक प्रकार बताए गए हैं यथा, स्वर्ण या ताम्रपत्रिका, भोजपत्र, कागज, कपड़ा, मूल्यवान पत्थर आदि पर, निर्श्चित तिथि में, विहित रंग से यन्त्र–आलेखन के विधान बताए गए हैं। इन सबों से भिन्न, मिथिला चित्र–परंपरा में यन्त्र–लेखन की पद्धति सबसे अलग है, अति सामान्य; केवल अवसर, भाव, आकार और पवित्रता ही आवश्यक है। आकार का अपना मानक स्वरूप है, किंतु एक कुल

से दूसरे कुल के अरिपनों में कौलिक प्रि क्षण के कारण मूल आकार में भिन्नता देखी गयी है; यह भिन्नता अलंकरणों के प्रयोग के कारण भी आ जाती है।

कर्णाटवंशी राजाओं के शासन–काल में मिथिला अरिपन, यन्त्र या मण्डल की रूपरेखा और तान्त्रिक कृत्यों की विस्फोटी शक्ति को धार्मिक आकर प्रदान करने की जरूरत के आधार पर निर्धारित की गयी थी। तान्त्रिक प्रकृति के यन्त्रों के आरेख के साथ पढ़े जानेवाले मन्त्रों का भी तदनरूप रूपान्तरण किया गया जिसके सूत्र सामाजिक धरातल पर गढ़े गए थे, "सूप सन छाती पाट सन पीठ, हमर भैया के लागए ने दीठ।" कुछ तत्व सभी तरह के मण्डल आरेखों में सामान्य थे। तन्त्र, अभिचार और धार्मिक कर्मकाण्ड की यह चित्रलिपि, व्रत या उत्सव–मण्डल, जिसे सामान्यतया अरिपन, मण्डल, सठिया, चौक आदि नामों से जाना जाता है, एक सामान्य सममिति की साझेदारी करते हैं। वृत्त, त्रिभुज, चौकोर, अष्टकोण या षट्भुज आकार और इस साधारण संरचना से विकसित प्रतिरूप सभी तरह की तान्त्रिक और धार्मिक लिखिया के आधारभूत घटक हैं। अरिपन या मण्डल की दूसरी विशेषता उसके सुरक्षा–कोर या प्रवेशद्वार हैं जो शक्ति–आवेशित क्षेत्र को घेरे रहते हैं। यह घेरा कभी गोलाकार होता है और कभी चाकोर होता है जो नादरूप या मन्त्र और मुद्रा के द्वारा, क्षेत्रपाल या द्वारपाल द्वारा संरक्षित होता है। आरेख के हृदय–क्षेत्र में, पवित्रता और सुरक्षा के क्षेत्र में प्रवेश मन्त्र और मुद्रा के द्वारा, तान्त्रिक–धार्मिक मायाशक्ति और विधिगत चेष्टा के द्वारा सम्भव होता है, जिसका ज्ञान मात्र दीक्षित साधकों को होता है। मिथिला अरिपन में सामान्यतया चौकोर कोर या सुरक्षा कवच होते हैं और इस आलेखन के साथ स्त्रियाँ स्वयं शिल्पी के साथ–साथ व्रती और पुजारी भी होती हैं।

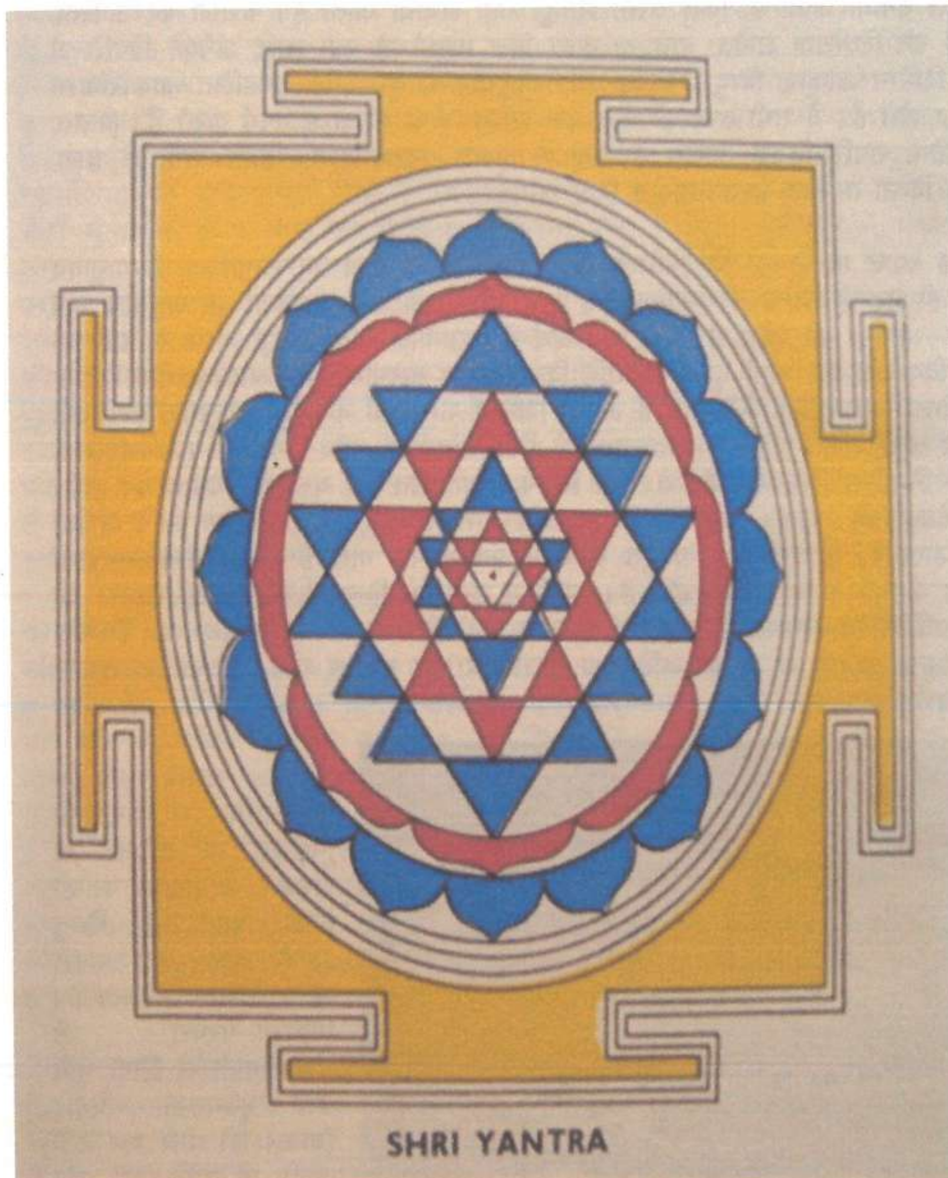
पौराणिक काल से ही, सभी प्रमुख देवताओं का वर्णन करनेवाले यन्त्र और मण्डल विद्यमान रहे ह। बासठ कमलदलवाला एक विशद वृत्त का वर्णन अग्नि–पुराण में आया है जिस पर बारह मत्स्य स्थापित हैं, और जिसके चारो कोण पर, एक चौकोर रचना में भद्र (शुभ) लिखा है। इस आरेख में दो, चार या छः द्वार हैं जो सभी दिशाओं में खुलते हैं और जिसके पृथक–पथक अभिभावक (रक्षक) हैं, जो मण्डल के द्वारों के अलंकरण की तरह भी लगते हैं।

मुख्यतया मांगलिक लालसा और अनजानी दुष्ट शक्तियों से रक्षा के लिए, एक औजार के रूप में, मण्डल या यन्त्र की मांग हजारों वर्षों से रही है। मन्त्र का साकार रूप यन्त्र था और इसका प्रयोग रक्षात्मक और अनिष्टकारी दोनों तरह के उद्देश्यों के लिए किया जाता था। रक्षा–मन्त्र और धारिणी, झार–फूँक और तन्त्र–मन्त्र, प्रकट रूप से जिन शब्दों का कोई अर्थ लगाना कठिन होता है, रक्षा से सम्बंधित जादूई कर्मकाण्ड के अनिवार्य अंग थे। मन्त्र के विषय में कहा जाता है कि वे या तो पुल्लिंग, स्त्रिलिंग या नपुंसक होते हैं। पुल्लिंग मन्त्र, उसके यन्त्र के संग, सम्मोहन क्रिया के लिए प्रयोग किए जाते थे और एक तरह से डायनपन के अन्तर्गत आते थे जबकि स्त्रिलिंग मन्त्र का उपयोग रोग से निवारण के लिए रक्षात्मक कवच के रूप में होता था।

"श्रीयन्त्र, श्रीचक्र या श्रीविद्या समस्त वैदिक अरिपनों या मण्डलों में पवित्रतम माना गया है। श्रीयन्त्र देवी षोडसी का ज्यामितिक ठोस रूप है, शिव–शक्ति के शाश्वत मिलन का प्रतीक। त्रिपुर सुन्दरी त्रिपुरा, ललिता देवी का नामान्तर है जिसकी परिकल्पना एक–दूसरे में व्याप्त नौ त्रिकोणा के रूप में की गयी है। चक्र के पाँच त्रिकोण, जिसकी अध्यक्षता देवी करती ह, अधोमुख है और चार त्रिकोण, जिसकी अध्यक्षता शिव करते हैं, ऊर्ध्वमुख हैं। देवी का सूक्ष्मरूप मन्त्रात्मक है। वेद को समस्त चौदह विद्याओं का सार कहा गया है जबकि श्रीविद्या को समस्त वेदों का सार होने का सम्मान प्राप्त है। श्रीविद्या गायत्रो का अत्यन्त गूढ़ रूप है। देवो का परम रूप वासनात्मक है जिसे त्रिकोणों के मध्य एक या तीन बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, देवी की काम–कला के रूप में। इन नौ त्रिकोणों का मुख्य आरेख कमल के दो आभ्यान्तरिक कोरों (borders) से घिरा होता है; पहला कोर आठ कमलदलों से और दूसरा कोर सोलह कमलदलों से बना होता है। श्रीयन्त्र को तन्त्रराज, सवोच्च तन्त्र कहा गया है।

तन्त्र प्रकाश और विमर्श के दुहरे सन्तुलन में परमात्मा की परिकल्पना करता है। इन्द्रियातीत स्वयंभू रूप में परमात्मा मूलभूत प्रभा, प्रकाश होता है। जब वह अपने आप को प्रकट करने के लिए प्रेरित करता है तब स्वयं उसमें एक विमर्श उत्पन्न होता है। यह विमर्श एक प्रकार की हलचल, आवेग, एक लालसा अथवा इच्छा का रूप लेती है; यही इच्छा काम है। किसी जीव में आभ्यान्तरिक विभाजन से अंशरूप में इच्छा घटित होती है। इच्छा के इसी अंश या अंकीय अनुपात को कला कहा जाता है। परमात्मा की इच्छा का यह अंश, कामकला, सर्वोच्च देवी त्रिपुरसुन्दरी है, दशमहाविद्या की तीसरी शक्ति। "कामस्तदये समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्।" "वह (काम) सर्वप्रथम उसके (परमात्मा के) अन्तस् में इच्छारूप में संचरित हुआ, जो मन का आद्य बीज था।" (ऋग्वेद)। "सो कामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति", "उसने (परमात्मा ने) इच्छा की, प्रजा की उत्पत्ति के

लिए हम बहुविध रूप हो जाँय", ऐसा उपनिषद (तैत्तिरीय) कहता है। इच्छा सृष्टि का रहस्य है, आविर्भाव का मूल है, अस्तित्व का मूलाधार है। अपने–आप को विस्तारित करने की ईश्वरीय इच्छा, आविर्भाव में धरातल के स्तर पर, आधिपत्य, अन्तर्लयन, आत्मसातकरण और सुखोपभोग के माध्यम से अपने–आप को कायम रखने के प्रयास में लगे जीव–विशेष तक हस्तान्तरित होता है। इच्छा सर्वप्रथम विखण्डन का रूप लेतो है और उसके बाद सभी विखण्डित अंशों को मिला कर एक हो जाने की इच्छा जनमती है। सृष्टि के अनन्तर ईश्वर अपने–आप को उससे मुक्त करने की कामना करता है और फिर उसी सृष्टि को पुनः प्राप्त करने की कामना भी करता है। ईश्वर की यही द्विविध इच्छा प्रेम का आधार है, जीवनदायी बन्ध है जो सर्जक और सृजित को एक सूत्र में बाँधे रखता है।


SHRI YANTRA

वैदिक ऋषियों के अनुसार, प्रेम ईश्वरीय आनन्द का एक निःस्राव है, तात्विक आनन्द है जो सभी वस्तुओं में अन्तर्भूत है। और जब आनन्द अपने–आप को किसी रूपाकार में प्रकट करता है, तब यह सौन्दर्य क रूप में व्यक्त होता है। इन्द्रियातीत परमात्मा में समाहित प्रेम का सर्वसत्ताक प्रभाव समस्त सृजित वस्तु पर होता है। सदिच्छा, कृपालुता, सम्मान, अनुराग, मैत्रो, घनिष्ठता, एकता के मनोभाव –– ईश्वरीय प्रेम के धरातल पर उपलब्ध ये सभी सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त ह, जिससे यह पृथ्वी सम्पोषित है; और यही श्रीविद्या की उपासना का सार है।

श्रीविद्या के बारह आद्यकालीन उपासक कहे गए हैं जिनके नाम पर सम्प्रदाय प्रचलित हैं। इन सबों में काम (मन्मथ) को प्रथम उपासक कहा गया है। अन्य प्राचीन उपासकों के नाम मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, अगस्त्य, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और दुर्वासा हैं। लोपामुद्रा विदर्भराज की कन्या और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी। श्रीविद्या की मुख्य शक्ति भगमालिनी है, भग का एक दैवीरूप। लोपामुद्रा बचपन से ही अपने पिता की सेवा में थी। वह अपने पिता को नित्य भगमालिनी की आराधना करते देखती थी। देखते–देखते उसने भी उसी प्रकार आराधना प्रारम्भ कर दी। एक समय देवी ने प्रसन्न हो कर उसे अपने पद–सेवा का अधिकार प्रदान कर दिया। त्रिपुरविद्या का उद्धार करने के उपलक्ष्य में लोपामुद्रा को ऋषित्व प्राप्त हुआ। अगस्त्य मूलतः वैदिक ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी से श्रीविद्या–सम्प्रदाय में दीक्षा प्राप्त की। आधुनिक समय में श्रीविद्या या श्रीचक्र के बारह सम्प्रदायों में अधिकांश लुप्त हो गए हैं, मात्र मन्मथ और कुछ अंश में लोपामुद्रा का सम्प्रदाय जीवित है।

यन्त्र का उपयोग विविध रूपों में करने का इतिहास भारतीय समाज में बहुत प्राचीन है। बंगाल में वसन्त, शरद और शीत ऋतु में समृद्धि और सौन्दर्य की सुनिश्चितता के लिए लक्ष्मीपूजा के यन्त्र या अल्पना लिखे जाते हैं। वसन्त में, खेत में बीज डालने से पहले, लक्ष्मी को अर्पित अल्पना हल्के हरे रंग से बनाए जाते हैं; शरद काल में, जब फसल पक जाती है तब चमकीले पीले रंग से और कटनी के समय, शीत ऋतु में, भूरे पीताभ रंग से अल्पना का आलेखन किया जाता है। मिथिला में धान की फसल तैयार होने के बाद, कटनी प्रारम्भ होने से पहले 'नवान्न' पर्व होता है। इस दिन सूर्य–यन्त्र बना कर चूड़ा और गुड़ का पहला उत्सर्ग सूर्य का अर्पित किया जाता है। किन्तु यन्त्र मात्र कृषि–मौसम के धार्मिक कृत्यों का आवश्यक अंग नहीं है, अपितु यह दीक्षा और मृतक की धार्मिक क्रिया जैसे अवतरण की भी धार्मिक विधि है। मिथिला में मृतक के श्राद्धकर्म के अंतर्गत उल्टे हाथ से एक वृत्त बनाया जाता है, किंतु उसमें सिन्दूर नहीं लगाया जाता है। फसलों की ऊर्वरता, वर की पौरुष शक्ति, डायनों की विध्वंशक शक्ति, बाघ या अन्य हिंस्र पशुओं से रक्षा आदि अनेकों विपत्ति से सुरक्षा सुनिश्चित करन हेतु विभिन्न आकार, बिन्दु, त्रिभुज, वर्ग, बहुभुजाकार, वृत्त और कुण्डलित आकारोंवाला मन्त्र–यन्त्र और धार्मिक आरेख होते हैं। ये सभी तरह के यन्त्र एक शक्ति–केन्द्र की तरह कार्य करते हैं। अन्ततः ये शक्ति–केन्द्र देवी की सक्रिय उपस्थिति के आसन हैं, चाहे वे कृषक–गृहस्थ द्वारा, किसी योगी के द्वारा, किसी किमियागर के द्वारा या किसी तान्त्रिक द्वारा उपयोग किए जाँय।

अगले अध्याय में यह स्पष्ट हो पायगा कि मिथिला के अरिपन जटिल तन्त्र का सामाजिक क्रियानुवाद है, किन्तु यह विषय जितना ही गूढ़ है उतना ही व्यापक भी। कुछ लोग तन्त्र की व्यापकता का अनुमान नहीं लगा पाने के कारण इसे जन–सामान्य की पहुँच से बाहर, एक अर्थ में असामाजिक या जादूई कृत्यों के स्रोत के रूप में देखते हैं, किन्तु वास्तविकता इससे बहुत दूर है। यद्यपि कि तन्त्र का मूलभाव सदैव अपरिवर्त्तनीय है, यह विश्वास कि सम्पूर्ण वैश्विक सत्ता आद्याशक्ति के अधीन है अथवा विभिन्न सम्प्रदायों के विश्वासानुसार, तत्सम्बंधी दैवी शक्ति के अधीन है, और उसो शक्ति की अनुकूलता पाने के लिए सामाजिक जीवन में व्रत–पूजा–उपासना के नियम परम्परागत रूप से निर्धारित किए गए हैं। ये सभी नियम तन्त्राधारित हैं। यन्त्र को देवता का शरीर कहा गया है और मन्त्र को देवता की आत्मा। यन्त्र या अरिपन के निर्माण में बिन्दु, रेखा, त्रिकोण आदि अनेकों ज्यामितिक चिन्हों का प्रयोग हाता है। ये सभी चिन्ह वस्तुतः तन्त्र की प्रतीकात्मक भाषा हैं जिनमें सभी सम्प्रदायों के, सभी समुदायों की साधना के गूढ़ रहस्य निहित होते हैं। इसीलिए तन्त्र को हिन्दूधर्म की समस्त साधना की कुंजी कहा गया है। तन्त्र मात्र शक्ति–उपासना का प्रधान अवलम्ब नहों है, यह समस्त साधना का एकमात्र आश्रय है। इसमें स्थूलतम साधना–प्रणाली स ले कर अति गुह्य मन्त्रशास्त्र और गुह्यतर योग–साधनादिक समस्त क्रिया–कौशल का सविस्तार वर्णन होता है।



यद्यपि कि मिथिलाचित्र के यन्त्र भी निश्चित पर्व–त्योहार या संस्कार के अवसर पर ही लिखे जाते हैं किन्तु इसके लेखन का सबसे अनिवार्य तत्व पवित्रता है। मिथिला–परंपरा में गोबर–माटी से लिपी भूमि पर मुख्यतया पिठार (चावल को पीस कर बनी लोई) के श्वेत रंग और सिन्दूर, कभी–कभी गोबर तो कभी हल्दी के चूर्ण से और कभी भित्ति पर विविध रंगा से अरिपन की लिखिया की जाती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि भूमि पर अरिपन की लिखिया उँगलियों की टुरनी से की जाती है किन्तु अरिपन का आलेखन कागज और कपड़े पर भी विधिगत है। कर्ण–कायस्थों के समुदाय में विवाह के अवसर पर, वर अपने साथ कागज पर लिखित कोबर, कमलदह, बर्रे, बाँस और दशावतार में विशेष विधि से लपेट कर सिन्दूर के छः पैकेट ले जाते हैं जिनका उपयोग, विधि अनुसार, विभिन्न अवसरों पर होता है। स सभी अरिपन वस्तुतः विशिष्ट यन्त्र हैं। मिथिला

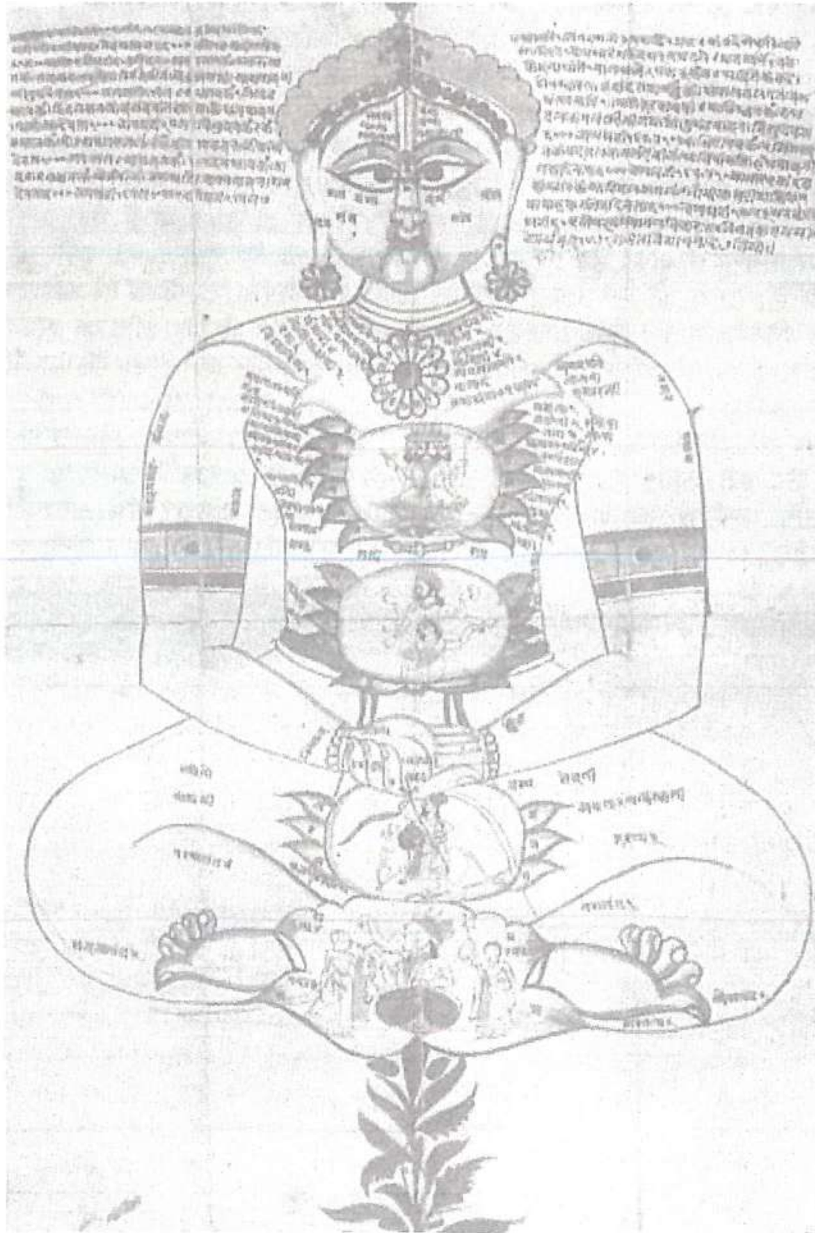
चित्र–परंपरा के अरिपन या यन्त्र कौलाधारित हैं किन्तु इनमें कृत्याभिचार (मारन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि) नहीं हैं, वैदिक परम्परा के 'श्रीयन्त्र' की तरह केवल शुभ कार्यों के लिए इन अरिपनों का प्रयोग होता है।

मिथिला में उपनयन, चूड़ाकरण, विवाह आदि समस्त संस्कार तन्त्राधारित हैं। तान्त्रिक परिपाटी में **षट्चक्र** का अध्ययन 'अंगन्यास' के अन्तर्गत आता है। अंग–न्यास का अर्थ होता है देवता के भिन्न–भिन्न अंगों का ध्यान करते हुए मन्त्र के साथ अंग–विशेष पर उसकी स्थापना करना। समस्त तन्त्रों का प्राथमिक चिन्तन है कि मानव–काया सम्पूर्ण सृष्टि का सूक्ष्म रूप है। जो कुछ प्राकृतिक तत्व वाह्य जगत में विद्यमान हैं, वे सभी तत्व मानव–शरीर में भी उपस्थित ह। यही कारण है कि शाक्तपूजा या तान्त्रिक साधना में 'न्यास' एक महत्वपूर्ण क्रिया है जिसमें शरीर के विभिन्न अंगों में वास करनेवाली देवी–शक्ति की भावना करते हुए, मातृका शक्ति को छू कर नमन किया जाता है। कुछ तन्त्र साहित्यों की स्पष्ट मान्यता है कि बिना न्यास के पूजा या साधना निरर्थक है। इस मान्यता के पीछे तर्क यह है कि मानव–शरीर पंचमहाभूत के साथ ही समस्त दैवीय शक्तियों का समिष्ट रूप है जो अंशरूप में शरीर के विभिन्न अंगों में अवस्थित हैं। मिथिला–परंपरा में विवाह–चूड़ाकरणादि सांस्कारिक अवसर पर वर–बधू अथवा बरुआ–बटुक का **''चुमाओन''** किया जाता है। यह न्यासक्रिया की प्रतीकात्मक विधि है जिसका सम्पादन दो तरह की अरिपन– लिखिया, 'बेटा–चुमाओन' और 'बेटी–चुमाओन' के अरिपनों की लिखिया से प्रारम्भ होता है। बेटी–चुमाओन में, मड़वा पर सप्तमातृका भाव से, कोबर के सात पत्तों का साधारण अरिपन लिखा जाता है, उसके ऊपर पुरइन लिखी पिढ़िया रखी जाती है जिस पर वर अथवा बधू के साथ वर बैठते हैं। बेटा–चुमाओन का अरिपन पान के आकार का अथवा पुरइन सहित कमल–पत्र होता है। चुमाओन की प्रक्रिया मे, पिढ़िया पर बैठे वर या बधू के ज्येष्ठ–श्रेष्ठ, वरेण्य जन दोनों हाथों की चुटकी में दूब–धान ले कर, संक्षिप्त रूप में, पाँच अंगों –– पान–फूल समन्वित दो हाथ, दोनों पैर, दोनों घुटने, दोनों कंधे और माथे को छू कर अंगन्यास करते हैं। इस क्रिया का भाव यह है कि मातृका के शरीर के एकावन वर्णरूपी अंगों का न्यास करते हैं। तन्त्रा की मान्यता के अनुसार, संस्कृत वर्णमाला के **अ** से ले कर **क्ष** पर्यन्त एकावन अक्षर मातृका के भिन्न–भिन्न अंग हैं। कुछ तान्त्रिक साहित्यों की मान्यता है कि सृष्टि के आदि में वर्ण मात्र की उत्पत्ति हुई जिसस चराचर जगत का निर्माण हुआ। प्रत्येक जीव की जिह्वा पर क्रीड़ा करनेवाली सर्वोपरि अक्षरशक्ति मातृका हैं।

चुमाओन की विधि वस्तुतः 'अ' से 'क्ष' तक समस्त मातृका–स्वरूप अक्षरशक्ति की स्थापना और उनका जागरण है। शास्त्रों के अनुसार यह क्रम इस प्रकार है ––1 'अ' मातृका की मौलि है, 2 'आ' मुख है, 3 'इ' दहिन नेत्र, 4 'ई' बाम नेत्र, 5 'उ' दहिन कर्ण, 6 'ऊ' बाम कर्ण, 7 'ऋ' दहिन नासापुट, 8 'ॠ' बाम नासापुट, 9 'ऌ' दहिन कपोल, 10 'ॡ' बाम कपोल, 11 'ए' उपरि अधर, 12 'ऐ' निम्न अधर, 13 'ओ' उपरि दन्तपंक्ति, 14 'औ' निम्न दंतपंक्ति, 15 'अं' तालु, 16 'अः' जिह्वा, 17 'क' दहिन बाहुमूल, 18 'ख' दहिन बाहुकूर्पर, 19 'ग' दहिन बाहुमणिबन्ध, 20 'घ' दहिन अंगुलिमूल, 21 'ङ' दहिन अंगुल्याग्र, 22 'च' बाम बाहुमूल, 23 'छ' बाम बाहुकूर्पर, 24 'ज' बाम बाहुमणिबन्ध, 25 'झ' बाम अंगुलिमूल, 26 'ञ' बाम अंगुल्याग्र, 27 'ट' दहिन जंघा, 28 'ठ' दहिन जानु, 29 'ड' दहिन गुल्फ, 30 'ढ' दहिन पादांगुलिमूल, 31 'ण' दहिन पादांगुल्याग्र, 32 'त' बाम जंघा, 33 'थ' बाम जानु, 34 'द' बाम गुल्फ, 35 'ध' बाम पादांगुलिमूल, 36 'न' बाम पादांगुल्यग्र, 37 'प' दहिन कुक्षि, 38 'फ' बाम कुक्षि, 39 'ब' पीठ, 40 'भ' नाभि, 41 'म' जठर, 42 'य' हृदय, 43 'र' दहिन स्कंध, 44 'ल' दहिन काँख, 45 'व' बाम स्कन्ध, 46 'श' हृदयादि, 47 'ष' हृदयादि बामकर, 48 'स' हृदयादि दहिनपद, 49 'ह' हृदयादि बामपद, 50 'ळ' नाभ्यादि हृदयान्त और 51 'क्ष' हृदयादि भ्रूमध्य है।

तन्त्र और हठयोग का षट्चक्र–आरेख मानवीय शरीर में मानसिक संवेदी केन्द्रों का प्रतिनिधित्व करता है। इन मानसिक केन्द्रों को देवी शक्ति का विश्राम–स्थल, विश्रामचक्र या पीठ कहा गया है जो रीढ़ में अनुकूल बिन्दुओं पर स्थित हैं। संख्या में सात इन चक्रों को कमल के प्रतीकात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है। इनमें से छः चक्रों में देवी या शक्ति निवास करती है और सातवाँ चक्र शिव का विश्राम–स्थल है। आधारचक्र, मूलाधारचक्र, जिसकी अवस्थिति रीढ़ की अस्थि से निचले भाग के कन्द–प्रदेश से लगे गुदा और लिंग के मध्य भाग में कहा गया है, और जहाँ शक्ति कुण्डली मारे बैठी सर्पिनी की तरह सुप्त अवस्था में रहती है, साधना के प्रभाव से जागृत होती है और अपना माथा ऊपर उठा कर आगे बढ़ते हुए क्रमशः सभी चक्रों का भेदन करते हुए सातवें चक्र, सहस्रार तक पहुँचती है। पृथ्वी तत्व की द्योतक, चौकोर, पीले रंग के यन्त्र से युक्त चार दलों के रक्तवर्ण कमल के मूलाधार चक्र पर व, श, ष और स वर्ण की स्थिति कही गयी है।

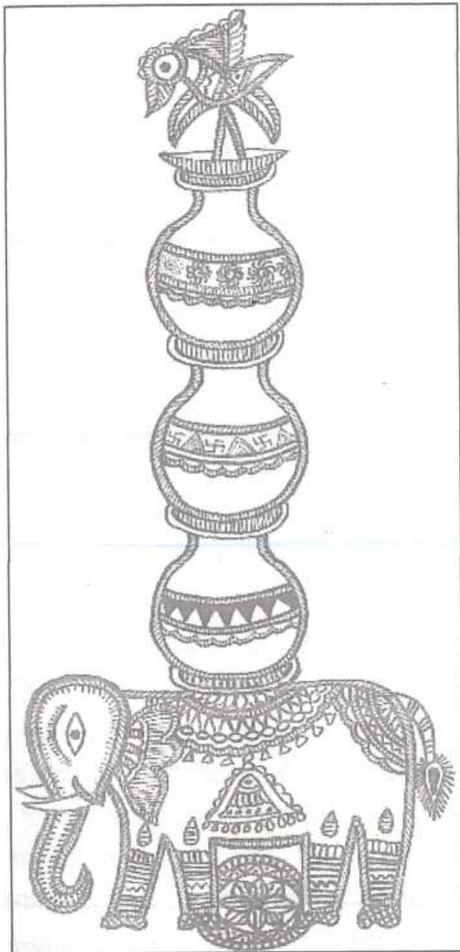
कल्पना की गयी है कि प्रत्येक सातों चक्र एक लघु ब्रह्माण्ड है जिसमें सृष्टि समाहित है। इन चक्रों का भेदन करने के बाद ही साधक मुक्ति की प्राप्ति करता है। प्रत्येक चक्र का अपना ठोस रूप है। मिथिला चित्रकला और तन्त्र दोनों में देवी का ज्यामितिक रूप, चारों ओर संकेन्द्रित रंग और ध्वनि के रूप में, उसके प्रत्यक्षीकरण का विस्तृत और जटिल प्रतीकवाद उपलब्ध है। इसका बिम्बविधान वासनात्मक है; चक्र यहा शिव–शक्ति का पीठासन है, पवित्र वेदी, जहाँ शिव के संग शक्ति का मिलन होता है। रीढ़ के आधार भाग में, गुदा और लिंग के मध्य भाग में, चार दलों के रक्तकमलदल पर स्थित है पृथ्वीतत्व का बीज, पीले रंग का चौकोर यन्त्र। इस चौकोर यन्त्र के केन्द्र में एक रक्तवर्ण त्रिभुज, योनि, कमल–नाल के तन्तु जैसा कोमल, कामाख्या की कल्पना की गयी है। इस योनि के मध्य में एक स्वयंभू लिंग है, जिसके चारों ओर आठ फेरों में लिपटी रहती है कुण्डलिनी, सर्पिनीरूपी स्त्रो, आद्य ध्वनि का स्रोत, योगीजन जिसका षोडसी के रूप में ध्यान करते हैं।



मूलाधार चक से ऊपर, छः दलों का कमल, स्वाधिष्ठान चक्र, लिंग–स्थान में अवस्थित होता है। इन कमलदलों का रंग सिन्दूरी है जिन पर क्रमशः ब, भ, म, य, र और ल वर्ण अवस्थित हैं। इस चक्र के मध्य स्थित यन्त्र का रंग चन्द्रमा की तरह शुभ्र और अर्धाकार होता है और यह यन्त्र जलतत्व का द्योतक कहा गया है। इस यन्त्र का बीज 'व' और वाहन मकर ह। स्वाधिष्ठान से ऊपर, नाभिक्षेत्र में, दसदल कमलवाला चक्र, मणिपूर है जिसका रंग मेघवर्ण है और उस पर क्रमशः ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प और फ वर्ण अवस्थित रहता है। इस दसदल कमल के पष्पावरण में एक ऊर्ध्वाकार लाल त्रिकोण होता है जो अग्नितत्व का द्योतक ह। मणिपूर चक्र से ऊपर, हृदय क्षेत्र में, अरुण रंग के बारह–दलवाला कमल–चक्र है, अनाहत चक्र, जिन दलों पर क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ वर्णो का वास है। इस चक्र का पुष्पावरण धूम्रवर्ण और आकार षट्कोण है जो वायुतत्व का द्योतक है। अनाहत चक्र से ऊपर, कण्ठ प्रदेश में, विशुद्धि चक्र है। सोलह कमलदलवाले धूमिल बैगनी रंग के इस कमलचक्र पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः –– सोलह वर्णो का वास है। इस कमलचक्र के पुष्पावरण का आकार पूर्ण चन्द्राकार है। इसे शून्य अथवा आकाशतत्व का द्योतक कहा गया है। इस चक्र से ऊपर, आज्ञाचक्र

की अवस्थिति दोनों भौंह के मध्य बिन्दु में होता है। इस चक्र के श्वेत वर्णवाले दो दल होते हैं जिन पर 'ह' और 'क्ष' वर्णों का वास कहा गया है। कपाल के भीतर मस्तिष्क के उस बिन्दु पर, जहाँ रीढ़ का ऊपरी छोर समाप्त होता है, एक रिक्ति की कल्पना की गयी है, ब्रह्मरन्ध। साधना के निविड़ निःशब्द क्षण में साधक इस रन्ध्र में बालसूर्य जैसे दीप्तिमय एक सहस्रदल कमल के प्रस्फुटित होने का अनुभव करते हैं, सहस्रार, जो शिव–शक्ति का मिलन–पीठ है।

तन्त्र और हठयोग के "षट्चक" का सिद्धान्त क्रमिक रूप से सम्पूर्ण भारत में फैला और तान्त्रिक अनुष्ठान, व्रत–कर्मकाण्ड तथा सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बनाया। देहाती समाज में, रहस्य विधियों में, तान्त्रिकों के भगपूजा कर्मकाण्डों में, आरेख या यन्त्र भगदेवी या कामाख्या, अर्थात काम और सृजन के नयन, कोख तक पहुँचने का मार्ग, स्त्रो के उस गुप्त स्थान तक पहुँचने का द्वार जहाँ जीव का प्रवर्त्तन होता है, के रूप में एकात्म हो गया। देवी के मन्दिर और शक्ति–पीठों में, योगिनी–यन्त्र, मण्डल, जो पवित्र स्त्रोरूप का मूलभूत अमूर्तन था, बिन्दु की आधार पृष्ठभूमि पर बनाया जाता था और तब यन्त्र को देवी की मानवाकृतीय प्रतिमा के नीच स्थापित किया जाता था।



शिवसंहिता के दूसरे पटल में उल्लेख है कि यह मनुष्य–शरीररूपी पिण्डाण्ड विशाल ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्ति है और जितनी शक्तियाँ इस विश्व का परिचालन करती हैं वे सभी इस देह में विद्यमान हैं। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र भी बतलाता है कि समस्त राशियाँ कालात्मक शरीर में स्थित हैं और प्रत्येक प्राणी के अंगों में भी ये व्याप्त हैं। श्रीमद्भागवत में ब्रह्माण्डरूपी विराट शरीर का वर्णन सहित उल्लेख है कि कटि–प्रदेश से ऊपर सात लोक हैं और कटि से नीचे भी सात लोक या संसार हैं। पौराणिक साहित्यों में ये 'चौदह लोक' या संसार के रूप में प्रसिद्ध हैं। (चौदह भुवनों का उल्लेख आगामी '**कोबर**' अरिपन में किया गया है)। कटिप्रदेश से ऊपर के जो सात लोक हैं वही गायत्री मन्त्र की सप्त व्याहृति हैं और उसीको दूसरे रूप में मूलाधारादि षट्चक्र तथा सहस्रार चक्र कहा जाता है।

जिस प्रकार भूमण्डल का आधार मेरु पर्वत को कहा गया है उसी प्रकार इस मानव–शरीर का आधार मेरुदण्ड अथवा रीढ़ की अस्थि है। यह मेरुदण्ड तैंतीस अस्थि–खण्ड, कशेरुकों के जोड़ से बना है। यह भीतर से खोखला है। इसका निचला भाग नोकीला और छोटा है, जिसे 'कन्द' कहा जाता है। इसी कन्द में जगदाधार महाशक्ति की प्रतिमूर्ति, कुण्डली का वास माना गया है।

मानव–शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों की स्थिति कही गयी है जिनमें से मुख्य नाड़ियों की संख्या चौदह है। इन चौदह नाड़ियों में भी प्रधान नाड़ियाँ तीन हैं जिनके नाम इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना है। इड़ा नाड़ी मेरुदण्ड के बाहर, बाँयी ओर से और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर से मेरुदण्ड को लपेटे हुए है। सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर कन्दभाग से प्रारम्भ होकर कपाल में स्थित सहस्रार तक जाती है। कहा जाता है कि सुषुम्ना नाड़ी के भीतर भी तीन नाड़ियाँ हैं –– वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी। योगक्रिया द्वारा जागृत कुण्डलिनी–शक्ति इसी ब्रह्मनाड़ी द्वारा कपाल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर पुनः वापस लौटती है। तन्त्र की मान्यता है कि षट्चक्र के सभी चक्र किसी न किसी देवता की अध्यक्षता में कार्य करते हैं जिनका अपना बीजाक्षर, वाहन और योगिनी–शक्ति होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मूलाधार चक्र का देवता ब्रह्मा, उसका बीजाक्षर 'ल', वाहन ऐरावत हाथी और योगिनी–शक्ति डाकिनी है; स्वाधिष्ठान चक्र का देवता विष्णु, बीजाक्षर 'व', वाहन मकर और योगिनी–शक्ति राकिनी है; मणिपूर चक्र का देवता वृद्धरुद्र, बीजाक्षर 'र', वाहन मेष और योगिनी–शक्ति लाकिनी

है; अनाहत चक्र का देवता ईशानरुद्र, बीजाक्षर 'ह', वाहन हस्ति और योगिनी–शक्ति शाकिनी है; आज्ञाचक्र का देवता अर्धनारीश्वर शिव के पुरुष भाग का लिंग (इतरलिंग), बीजाक्षर प्रणव, वाहन नाद और योगिनी–शक्ति हाकिनी है। मिथिलाकला–परंपरा में षट्चक्र का निरूपण मूर्तिकला (कुम्भकारी) और अरिपन–कला के विलक्षण संयोग से व्यक्त किया गया है। जब किसी परिवार में मुण्डन, चूड़ाकरण या विवाहादि संस्कार का समारोह समुपस्थित होता है तब आँगन में मड़वा खड़ा किया जाता है। संस्कार से सम्बंधित अधिकांश बिध (कर्मकाण्ड) उसी मड़वा पर सम्पन्न होते हैं जहाँ पूर्वदिशा की ओर पुरैन अरिपन पर कुम्भकार द्वारा निर्मित हाथी स्थापित किया जाता है। उस हाथी पर, बारी–बारी से, तीन पुरहर (कुम्भ) रखे जाते हैं। सबसे ऊपरवाले पुरहर पर एक ढकना रखा जाता है जिसमें लिंगाकार 'सोरी' या 'श्री' रखा जाता है, जिस पर एक सुग्गा बैठा रहता है।

मृणकला और अरिपन की इस अभिव्यंजना के माध्यम से मिथिला की नारीबुद्धि सुबोध रूप से दुर्बोध तान्त्रिक प्रतीकवाद का रहस्योद्घाटन करती है। इस जगह पुरइन अरिपन पृथ्वीतत्व का द्योतक है, आधारतत्व, मूलाधार या मूलाधारचक्र, जिस आधार पर हाथी या स्वयंभूलिंगम स्थित है। हाथी की पीठ पर स्थापित श्वेतरंग के पिठार से पुती और अधोमुखी त्रिकोण से चित्रित पुरहर चन्द्रमा के समान शुभ्र, अधोमुखी त्रिकोणों के अर्थ में, स्वाधिष्ठान चक्र या जलतत्व का द्योतक है। स्वस्तिक या ऊर्ध्वमुखी त्रिकोणों से चित्रित दूसरा पुरहर मणिपूर चक्र का द्योतक है। तन्त्र में इस चक्र का पुष्पावरण बालरवि के समान और चक्र का यन्त्र त्रिकोण कहा गया है, जिसके तीनों पार्श्व में स्वस्तिक स्थित है। हाथी की पीठ पर स्थित यह पुरहर अग्नितत्व का द्योतक है। तीसरा पुरहर, जिस पर बिर्रो (वायु–बवण्डर) का प्रतीक चित्रित होता है, अनाहतचक्र या वायुतत्व का द्योतक है। तीसरे पुरहर के ऊपर स्थापित ढकना विशुद्धिचक्र का द्योतक है जिसे तन्त्र में पूर्णचन्द्र–सा गोलाकार और शून्य अथवा आकाशतत्व का चक्र कहा गया है। तन्त्र के षट्चक में आज्ञाचक का देवता अर्धनारीश्वर शिव के पुरुष भाग का लिंग, इतरलिंग को कहा गया है। इस 'इतरलिंग' या आज्ञाचक्र का द्योतक है ढकना में स्थापित लिंगाकार सीरी अथवा 'श्री'। उस लिंगाकार 'श्री' पर बैठा है एक सुग्गा, प्रेम और आनन्द का प्रतीक, सहस्रार का बोध–प्रतीक।

ऊपर्युक्त विवरण का उद्देश्य तन्त्र की व्याख्या नहीं, अपितु मिथिला चित्र और तन्त्र के बीच सम्बंध का निरूपण करना है। स्पष्ट है कि मैथिल जीवन–शैली पर तन्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। पी वी काणे ने ''धर्मशास्त्र का इतिहास'' में उल्लेख किया है कि सभी तन्त्रों में एक विषय जो सामान्य रूप से पाया जाता है, वह है पंचमकार। तन्त्र विद्या के विशेषज्ञों का मानना है कि बिना पंचमकार के कोई भी तान्त्रिक साधना सफल नहीं हो सकती ––''पंचतत्व विहीनाया पूजाया न फलोद्भव'' (महानिर्वाण तन्त्र)।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि पंचमकार–सेवन का विधान बौद्ध–तन्त्र के बज्रयान में विकसित हुआ। बज्रयानी चिन्तन और साधना का प्रसार जब ब्राह्मण–परंपरा में हुआ तब उसे बाममार्ग कहा गया। यद्यपि कि पंचमकार –– मत्स्य, मांस, मदिरा, मुद्रा और मैथुन को तान्त्रिक उपासना में अनिवार्य माना गया, किन्तु अनेकों तन्त्रावलम्बी इसे स्वीकार नहीं करते हैं। मिथिलाचित्र–तन्त्र में पंचमकार को वैकल्पिक किंवा रहस्यवादी रूप का प्रचलन है। तान्त्रिक साधना में पंचमकार उपासना–पद्धति को परम लाभदायक और श्रेष्ठ कहा गया है। मिथिला में पंचमकार का प्रयोग दो रूपों में होता है ––सामाजिक धरातल पर नित्य साधना और विशेष तान्त्रिक साधना के रूप में। कौलमत के अन्तर्गत, कलासार–तन्त्र के अनुयायी सामान्यतया गृहस्थ हैं और सम्पूर्ण जीवन को ही तान्त्रिक साधना के रूप में देखते हैं। उनकी जीवन–शैली में मत्स्य, मांस, मदिरा और धर्म द्वारा स्वीकृत मैथुन को प्रारब्ध माना गया है। मिथिला के प्रायः सभी त्योहारों के अवसर पर, तान्त्रिक सम्बध के कारण ही, अरिपन बनाये जाते हैं। तान्त्रिक साधना मे पंचमकार उपासना–पद्धति को परम लाभदायक और श्रेष्ठ कहा गया है, साथ ही इस मार्ग को अत्यंत कठिन कहा गया है।

कलासार तन्त्र या कौलतन्त्र के सिद्धान्त पर चलनेवाले समुदाय पारम्परिक रूप से पंचमकार पर आधारित जीवन–शैली जीते थे, यद्यपि कि सामान्य जन इसमें किसी प्रकार के तान्त्रिक रहस्य से पहले भी अनभिज्ञ थे और आज भी अनभिज्ञ हैं। आध्यात्मिक रूप से माना गया है कि ब्रह्मरंध्र–सहस्रदल से जो सुधा स्रावित होती है, वही मद्य है, साधनामय भक्ति की चरम परिणति, जिसका अनुभव कबीर के रहस्यवाद में हुआ है –– ''गगन गहन बरसै अमी, भीजै दास कबीर।'' इसीको आध्यात्मिक मद्यपान कहा गया है। मिथिला चित्र–परंपरा मे 'युग्म–पुरैन' (मौहक अरिपन/यन्त्र) पर खीर से भरी थाली रख कर वर–बधू 'मौहक' बिध का सम्पादन करते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे महुआ के फूल से मद्य तैयार किया जाता है। प्रेम का यह मद्य

वर–बधू के सम्पूर्ण जीवन को अनुराग से अनुप्राणित करता रहता है। कमोबेश ब्राह्मणधर्म से प्रभावित मैथिल जीवन में 'महुअक' या 'मौहक' का यही मद्य तान्त्रिक पंचमकार का ''मद्य' है।

ब्राह्मणधर्म मतावलम्बी स्थूलतः मांस का निषेध करते हैं ओर पुण्य–पापरूपी पशु को ज्ञानरूपी खड्ग से मार कर मन को ब्रह्म में लीन करने की क्रिया को मांस–भोग मानते हैं। कलासार तन्त्र में मांस–भोग की अद्भुत विधि निर्धारित की गयी है। कर्ण–गोष्ठी में वैवाहिक बिध के अन्तर्गत **'नहछू'** होता है। इस बिध में वर–बधू का रक्त रूइ में लगा कर रख लिया जाता है और किसी तरह छल से, पान या किसी अन्य खाद्य पदार्थ में वह रक्त रख कर वर–बधू को खिला दिया जाता है। इस विधि को 'सिनेह' कहा जाता है।

मत्स्य–भोग के सम्बंध में आध्यात्मिक मत है कि ''मानसादीन्द्रीयगणं संयम्यात्मानि सोजयेत्। स मीनाशी भवद्देवि इतरे प्राणिहिंसकः।'' ''मन आदि समस्त इन्द्रिय को नियन्त्रण में रखते हुए आत्मलीन साधक को मत्स्यभक्षी, मीनाशी कहा गया है, अन्य लोग जीव–हिंसक ह।'' मिथिला–परंपरा में चित्रतन्त्र की साधिका, गृहस्थ स्त्रिगण माछ को अपने जीवन के सौभाग्य का प्रतीक मानती है और जीवन को नित्य साधना समझ कर मत्स्य का तब तक सेवन करती हैं, जब तक उनके पति जीवित रहते हैं। पति–विहीना मैथिलानी मत्स्य–भोग का त्याग कर देती हैं।

मुद्रा का अर्थ होता है अंग–विन्यास। हठयोग में पाँच तरह को मुद्रा बतायी गयी है –– खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उनमनी। ब्राह्मणधर्म में जिस मुद्रा का निरूपण किया गया है वह परमात्मा और आत्मा की अवस्थिति से सम्बंधित है –– ''सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत्। आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः।। सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटि सुशीतलः। अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनीयुतः।। यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते।।'' अर्थात्, ''हे देवेशि, सहस्रदल महापद्ममें मुद्रित कर्णिका के अभ्यन्तर पारा की तरह आत्मा का निवास है। यद्यपि कि उसका तेज करोड़ों सूर्य के समान है, किन्तु स्निग्धता में वह करोड़ों चन्द्र–तुल्य है। यह परम पदार्थ अतिशय मनाहर और कुण्डलिनी–शक्ति से समन्वित है। जिसके हृदय में इस ज्ञान का उदय हो जाता है, वही यथार्थ में मुद्रा–साधक है।

मुद्रा और योगिनी के सम्बंध में राजेश्वर झा ने 'मध्यकालीन पूर्वांचलक वैष्णव साहित्य' में उल्लेख किया है कि ''मध्यकालीन मिथिला की तान्त्रिक साधना में मुद्रा के रूप में मालिनी की चर्चा पायी जाती है। राजा सलहेस की लोकगाथा में दीना और कुसुमा मालिनी की चर्चा मिलती है जो हिरिया और जिरिया की बहन थी, किन्तु दीना–भदरी की लोकगाथा में हिरिया को तमोलिन और जिरिया को लोहारिन कहा गया है। राजेश्वर झा ने 'जोगिन' शब्द का सम्बंध योग–साधना में प्रवृत्त उस साधिका से कहा है जो प्रधानतः मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती थी और जिसे तान्त्रिकाचार्य अपने उपभोग की वस्तु समझते थे। कालक्रमे, योग में भोग की प्रवृत्ति का उदय हुआ तथा स्त्रो परमार्थ का सोपान मानी जाने लगी एव जोगी के संग जोगिनि जल और नमक की तरह परस्पर मिल कर, एकाकार होकर उनकी महामुद्रा गृहणी, जोगिन आदि नामों को धारण किया।

मैथुन–तत्व का जो रूप वाममार्ग के नाम पर पाखण्ड करनेवाले साधकों ने स्त्री–तत्व में दिखलाया है, तन्त्र–ग्रन्थों में उसकी भर्त्सना की गयी है। दूसरी ओर, मैथुन को परम और श्रेष्ठ सिद्धिदायक कहा गया है। चौंसठ तन्त्र के अन्तर्गत ही कामकला को 'कलावाद तन्त्र' में स्थान दिया गया। वात्स्यायन के कामसूत्र का अध्ययन और प्रयोग इसी तन्त्र के अन्तर्गत आता था। कामसूत्र के अध्ययन में मैथुन की चौंसठ मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इनमें से अनेक मुद्राओं को तान्त्रिक विधि के रूप में गृहस्थ और तान्त्रिक दोनों ही प्रयोग करते थे। सोलहवीं–सतरहवीं सदी में बने ऐसे अनेक चित्र मैथुन–मुद्रा की विविधता और उनके तान्त्रिक प्रयोग पर प्रकाश देते हैं। इस अतिगुह्य विषय का सरलीकरण करते हुए कहा गया है कि '' कुण्डलिनीशक्तिः देहधारिणी, तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्त्तितम।'' अर्थात्, प्रत्येक जीव की देह में कुण्डलिनी शक्ति है और मैथुन के रूप में शिव–शक्ति का अनुभव किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य मैथिल जीवन–पद्धति में तन्त्र के महत्व को दर्शाना है। मिथिला चित्र–परंपरा का आधार तन्त्र है, यह सिद्ध होने के साथ ही मन्त्र की व्यापकता पर भी चर्चा अपेक्षित है। मन्त्र

भी मिथिला चित्र–तन्त्र का महत्वपूर्ण अंग है। मन्त्र का अर्थ होता है मन की रक्षा करनेवाली ध्वनि–शक्ति। मिथिला में गीत, फकरा, कथा, चित्र और कर्मकाण्ड सभी साथ चलते हैं। 'कर्ण–गोष्ठी' में 'वीअर बरहेता मूल' के भगवतीगीत मन्त्र की तरह ही हैं जिसका गायन प्रत्येक शुभ अवसर पर कर्मकाण्ड की तरह होता है। ये गीत कर्णाट गायनशैली पर आधारित हैं। नोचे की पंक्तियों में ऐसा ही परंपरागत एक गीत द्रष्टव्य है ––––

''घर भेल उत्तिमा करण चौपाइ, ठाढ़ि भेल उत्तिमा अक्षय भरारि।।

आ रे गोरिल भैया, नौ सै जोगिन बैसली जनाइर, हरखली त्रिपुरा परोसे पकवान,

परसि – अरसि देवी चौका चढ़ि बैसली, कर्पूर – खण्ड लै खल–खल हँसली,

हरदी रंगल पुतली त्रिपुरा, भल छज पएर नेपुर रुन – झुन बाज,

अपने भुगुत लै देवी ठाढ़ भै गेली,

हमरा से सब 'फल्लाँ' देवा, आशिश दै तोहे देवि जगत्र गोसाओनी।।''

''तुषारी पूजा'' के क्रम में मैथिलबाला या नवबधू द्वारा अरिपन यन्त्र बना कर मन्त्र का उच्चारण करना मैथिल जीवन–पद्धति पर मन्त्र के प्रभाव को स्पष्ट करता है। तुषार कहते हैं बर्फ को। दन्तकथा है कि पार्वती शिव के साथ विवाह करने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत पर अखण्ड तपस्या में लीन थी। गरमी बीती, वर्षा बीती, हिमालय पहाड़ पर शरद की बर्फ पड़ने लगी। पार्वती बर्फ में भींग कर भी तपस्या में लगी रही। वह बर्फ के ढेर में दब गयी, किन्तु तपस्या चलती ही रही। अन्ततः उसकी कामना पूर्ण हुई। भगवान आशुतोष का हृदय पसीजा और शिव–पार्वती का विवाह संभव हुआ।

मैथिल ब्राह्मण परिवार में विवाह–योग्य कन्या (विवाह से पहले) और कर्णकायस्थ परिवार में विवाह के बाद, पहले वर्ष की मकर–संक्रान्ति से नवबधू **'तुषारी पूजा'** करती हैं। महीने भर चलनेवाली यह पूजा सूर्योदय और सूर्यास्त से पूर्व की जाती है। भोर में यह पूजा पूर्व, उत्तर, और पश्चिम दिशा की ओर घूम कर की जाती है। इस पूजा के लिए अरवा चावल का आँटा (लाल और पीले रंग का/प्रवास) तैयार किया जाता है जो मिट्टी के पात्र, 'लगजोरी' में रखा रहता है। व्रती महिला अपनी चुटकी में चिक्कस (आँटा) लेकर भूमि पर 'तीन गिरह'' नामक यन्त्र बनाती है और मन ही मन मन्त्र पढ़ती है ––

पहला मन्त्र : सूर्योदय से पूर्व : पूर्व दिशा की ओर मुँह करके ––

''अत्थर – पत्थर पूजू रे तुषारी, सवक धीया मधु मांगए संसारक साड़ो,

मा गौरी बाप महादेव, तिनकर बेटी हम, ब्राह्मणक घर बएन दी,

सुतिरिया कोखि जनम ली, नमस्तुते नमस्तुते !''

इसके बाद पश्चिम की ओर मुँह करके ––

''तुस – तुषारी, जनम कियारी, छत्ताधारी, हम पूजू – पूजू रे गोरवरहारी।

माए मनाइन बाप राजा, तिनकर बटी हम बोझाइन, सुतिरिया कोखि जनम होए,

ब्राह्मण घर बएन दी, शिव सहित गिरिजाय नमः।''

इसके बाद उत्तर दिशा की ओर मुँह करके ––

''उत्तरे पंथे ओरस कंते, अवरस कंदा बोरे, ताही कारण सैंया सेवल,

देवरा बालू कोरे। सुतिरिया घर जनम होए, ब्राह्मण घर बएन दी,

शिव सहित गिरिजाय नमः।''

संध्या काल में पश्चिम की ओर मुँह करके ––

''संझे संझे सिन्दुर भरनी, लच्छे आगर पूत संबरनी, पहिल संझा मंडप दिए, से तिरिया की हुए, सात जनम अैहब हुए, सात जनम सुहब हुए, सीता सन सत्ती हुए, कुन्ती सन जीबछ हए, घाट सन जूड़ हुए, बाट सन बटैतिन हुए, शिव सहित गिरिजाय नमः।''

संध्या काल में उत्तर दिशा की ओर मुँह करके ––

''उत्तराइन छी, चित्राइन छी, जी छी, जान छी, जान छी, जान छी, लगथक थान छी, से थान केकरा दी, जान दियन्ती, जा जियन्ती वर्ष पुजन्ती, नूनू कूकुर दूध पियन्ती। शिव सहित गिरिजाय नमः।''

मधुस्रावनी का मन्त्र : बीनी या विनती ––

''जहिया स' भेल मन मनारे, बिसहरि खसली शम्भु भड़ारे।

कानथि गौरा फोरथि ढाह, हे दाइ बिसहरि राखू नाह।

आबि तुलाएलि पाँचो बहिनी, सकल शरीर घमि गेल बीनी।

बीनी हे बिसकरमा देर्लान, देव दुतन कें देख' देलनि।

सामिल वाइल हरे परेखी, बीनी गुन यति कहब विशेषी।

आँतर – आँतर लागल मोती, मुक्ता गाछ पाट के थोपी। ''

''भातृद्वितिया'' का पर्व दीपावली के दो दिन बाद मनाया जाता है। यह भाई–बहन का पर्व है। भाई कहीं भी रहता हो, इस दिन वह अपनी बहन के घर अवश्य पहुँचता है। भाई के आने पर बहन भूमि पर अरिपन–यन्त्र बना कर, पुरैन लिखी पिढ़िया पर भाई को बैठा कर, भाई की अंजुलि में पान–सुपाड़ी और कुम्हरे का फूल रख कर कलश या लोटे से भाई की अंजुलि में जल गिराते हुए मन्त्र पढ़ती है ––

''गगा नेओतल यमुना कें, हम नेओतइ छी अपना भाइ कें।

जा धरि गंगा – यमुना मे रहए धार, हमर भैया के चमके लिलार।''

''सामा–चकेबा'' का सुप्रसिद्ध गीति–नाट्य पर्व भी भाई–बहन के शुभोदय का विशिष्ट उत्सव है। सात–आठ रातों तक चलनेवाले इस पर्व का आयोजन संध्याकाल में होता है जब महिलाएँ एक स्थान पर जुटती हैं और गीत में अपने भाई और बहनोई का नाम लेकर उनके शुभोदय की कामना करती हैं। ये गीत वस्तुतः मन्त्र की तरह ही हैं।

यहाँ झाड़–फूँक से जुड़े कुछ सामान्य मन्त्र दिए जा रहे हैं। इन मन्त्रों का सम्बंध किसी प्रकार से चित्रकला के साथ नही है, किन्तु लौकिक जीवन में मन्त्र किस प्रकार व्याप्त है इसकी एक झलक इससे जरूर मिलती है ––

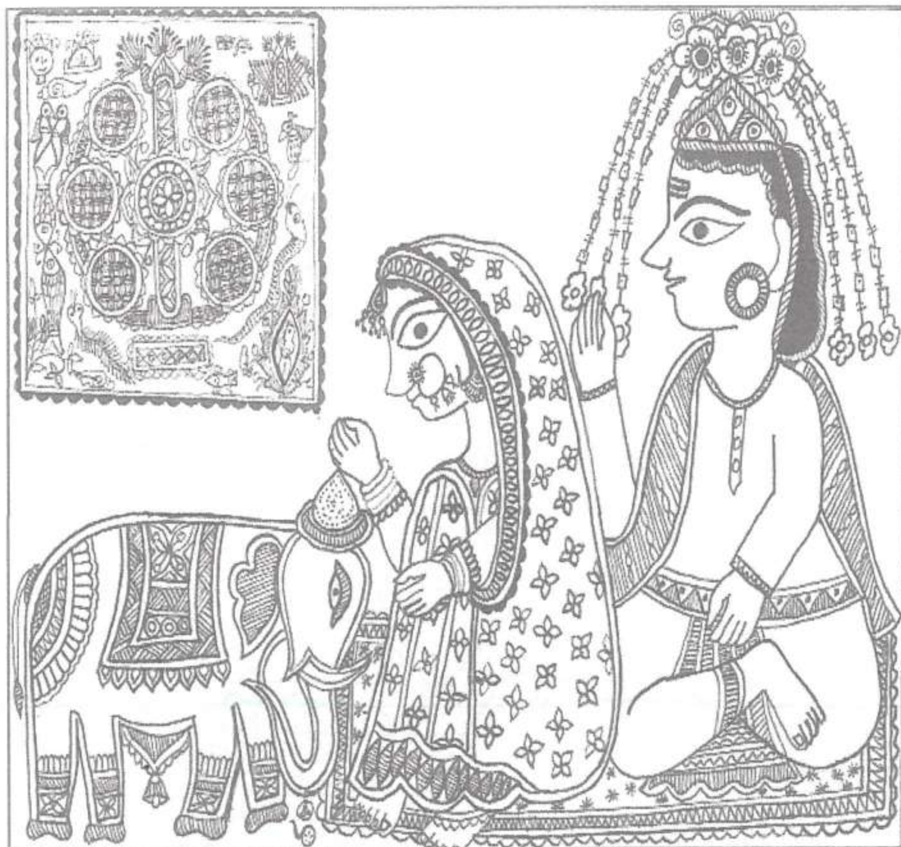
भूत–प्रेत छोड़ाने का मन्त्र –– "जहर माइ देवी दक्खिनवाली, भवानी देवी, गामक देवी, जल बान्हौं, जलक काया बान्हौं, भूत बान्हौं, परेत बान्हौं, बाभन के बान्हौं, बान बान्हौं, हनुमान केर पहरा।"

देह बान्हने (डायन के अभिचार से बचने के लिए) **का मन्त्र** –– "अंग बान्हौं, बान बान्हौं, औघर बाबा कमर बान्हौं, भैरव बाबा, गरदन बान्हौं, तेलिया मसान कपार बान्हौं, चल जोगिनी, छू मंतर, आ कमच्छा माइ।"

यन्त्र और मन्त्र का पयोग मात्र गूढ़ तान्त्रिक साधना या अभिचार क्रिया के लिए ही नहीं होता है बल्कि यह एक तरह की साधनामय जीवन–शैली की पद्धति भी है जिसका अवलम्बन केवल तान्त्रिक ही नही, सामान्य गृहस्थ भी करते हैं। मिथिला के गृहस्थ जीवन में सभी व्रत और सांस्कारिक बिध तन्त्राधारित हैं। इसमें मूल तत्व भावना होती है। बिध–व्यवहार मात्र अनुष्ठान सम्पादन के नियमादि ही नहीं होते हैं, अपितु बिध के सम्पादन से अनुष्ठान का आयोजक लक्षित देवी–देवता के प्रति इतना भावाविष्ट हो जाता है कि वह स्वयं देवमय हो जाता है। तन्त्र का भी यही निर्देश है कि साधक स्वय देवरूप होने के बाद ही किसी देवता की आराधना कर सकता है। ईष्ट देवता आत्मस्वरूप होता है, इससे पृथक नहीं; वह सभी वस्तुओं का निधान है, फिर भी किसी वस्तु में संगृहित नहीं है, क्योंकि वह परम साक्षी है, शाश्वत पुरुष।

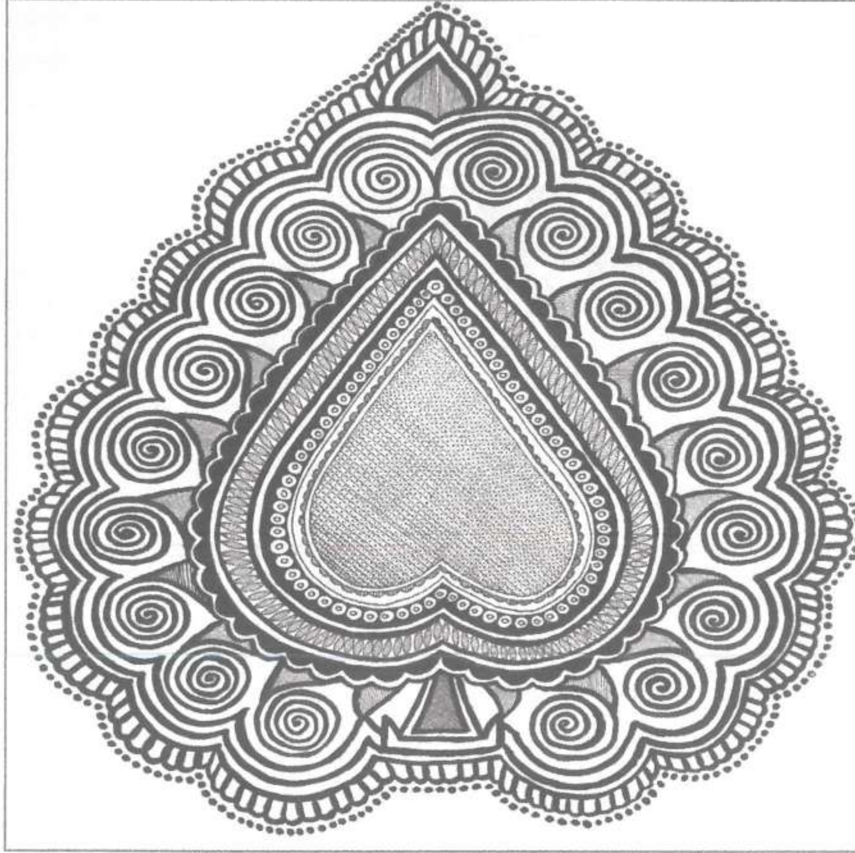
उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता ह कि तन्त्र कितने दूर तक मिथिला की जीवन–शैली को प्रभावित करता है। यद्यपि कि अपने को बुद्धिजीवी कहनेवाले मैथिल समाज का अधिसंख्य प्रबुद्ध वर्ग आज भी मिथिला की गरिमामय कला के प्रति चेतनशील नहीं है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जगत मिथिला की ग्रामीण कला को विलक्षणता प्रदान करनेवाले अनेक कारणों से अवगत है। जापान की राजधानी टोक्यो में हासेगवा नामक कलाप्रेमी ने 'मिथिला कला–संग्रहालय' की स्थापना की जो बहुत प्रसिद्ध है। इस लेखक ने भी यूरोप के अनेक नगरों में वर्ष 1999 से मिथिला चित्रकला की कई कार्यशालाएँ आयोजित की है। प्राचोन मिथिला समाज में प्रचलित संस्कृत के अध्ययन, ज्ञान और संस्कृति, इसकी शब्दावली और प्रतिमा–विज्ञान, तान्त्रिक विधि–विधान के साथ संस्कारों का निर्वहन और दृश्यकला के अवबोधन में सहज जीवनी–शक्ति की परस्पर संलीनता कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो मिथिला–कला को स्वाभाविक रूप से विश्व–वाङमय की श्रेष्ठता प्रदान करती हैं।

मिथिला में धार्मिक अनुष्ठान एक कला है, धर्म की कला। कला बौद्धिक रूप से धारण किया गया और भावनात्मक रूप से अनुभव किये गए विचारों की वाह्य अभिव्यक्ति होती है। धर्मविधि की कला उस विचार और भावना की अभिव्यक्ति के साथ सम्बद्ध होती है जो विशेष रूप से धार्मिक कहा जाता है। यह एक प्रणाली है जिसके द्वारा धार्मिक सत्य प्रदर्शित किया जाता है, और भौतिक रूप में, प्रतीकों के माध्यम से बोधगम्य बनाया जाता है। प्रतीकों का बिम्बविधान समस्त प्रकृति की भावपूर्ण रूप से बोधगम्य उस सुन्दरता के समर्थन से रूपायित होता है जिसमें किसी के लिए ईश्वर बार–बार अपने आप को प्रकट करता है। किन्तु कला इस सबसे कहीं अधिक है, क्योंकि यह एक साधन है जिसके द्वारा मन का रूपान्तरण और शुद्धिकरण होता है। खास कर भारतीय सिद्धान्त के अनुसार, यह एक उपकरण है जिसके द्वारा साधक की चेतना अनुभूति के रूप–विधान को वास्तविक तथ्य के आकार में लेता है, जो सत्य का मूर्तरूप होता है, जिसकी शिक्षा धर्मशास्त्र देते हैं।



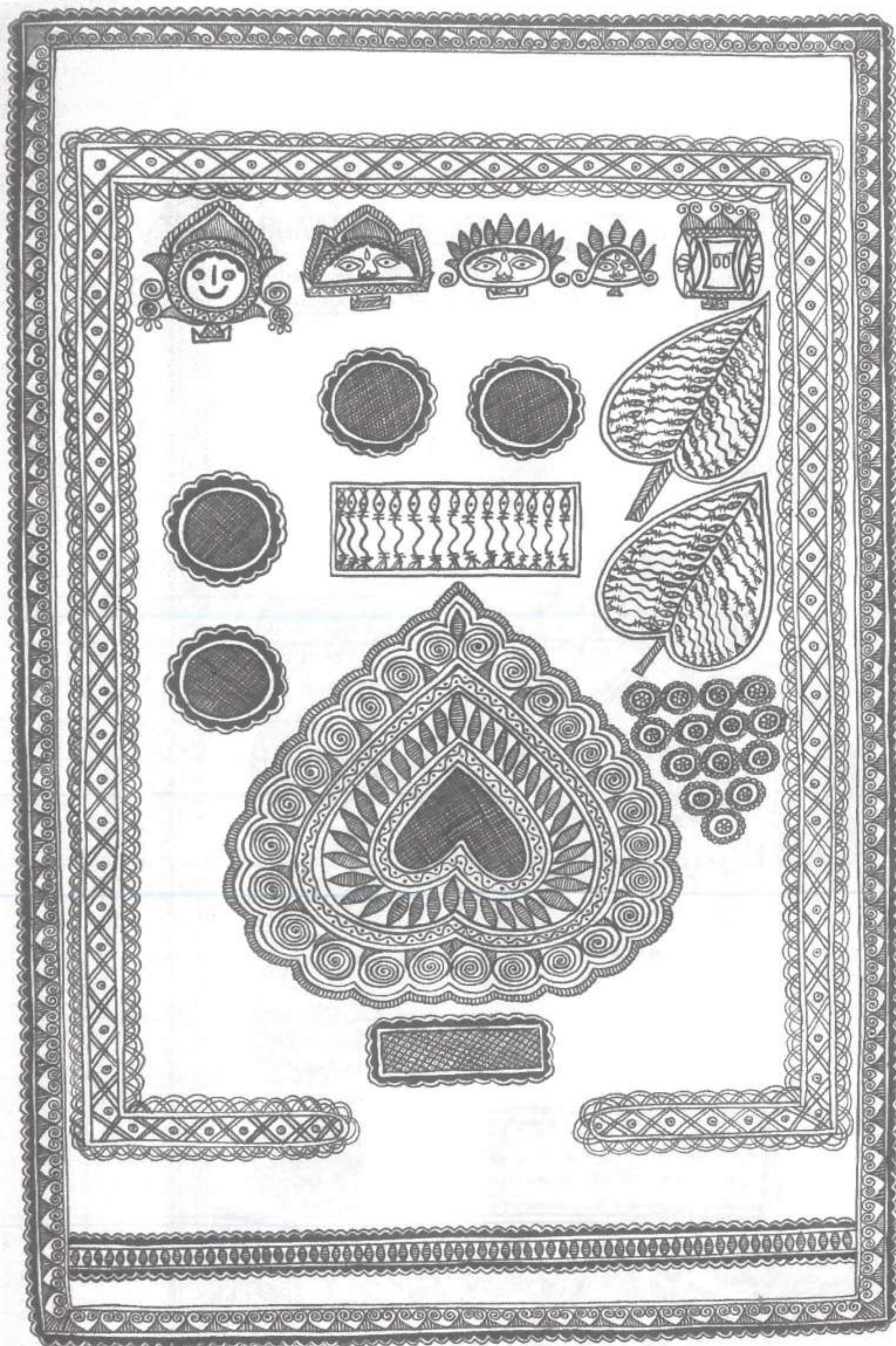
व्रत अरिपन

मिथिला में प्रायः सभी महीने में किसी न किसी व्रत का आयोजन होता है। इन व्रतों में उपवास, कथा, गीत और अरिपन–आलेखन प्रमुख तत्व होते हैं। इनमें से प्रायः सभी व्रतों की व्रती और पुजारी महिलाएँ स्वयं होती हैं। पुरइन और **पान–अरिपन** इन व्रत–पूजाओं में सामान्यतया अवश्य लिखे जाते हैं। पान के आकार का आरेख वस्तुतः ईष्ट देव का आसन होता है जबकि पुरइन अरिपन पर अर्घ की वस्तुएँ रखी जाती हैं। पान के पत्तों का प्रयोग प्रायः सभी तरह के धार्मिक और तान्त्रिक आराधनाओं में किया जाता है। मैथिल लोक जीवन में पान स्नेह और सम्मान प्रदर्शित करनेवाला साधन है।



पान अरिपन

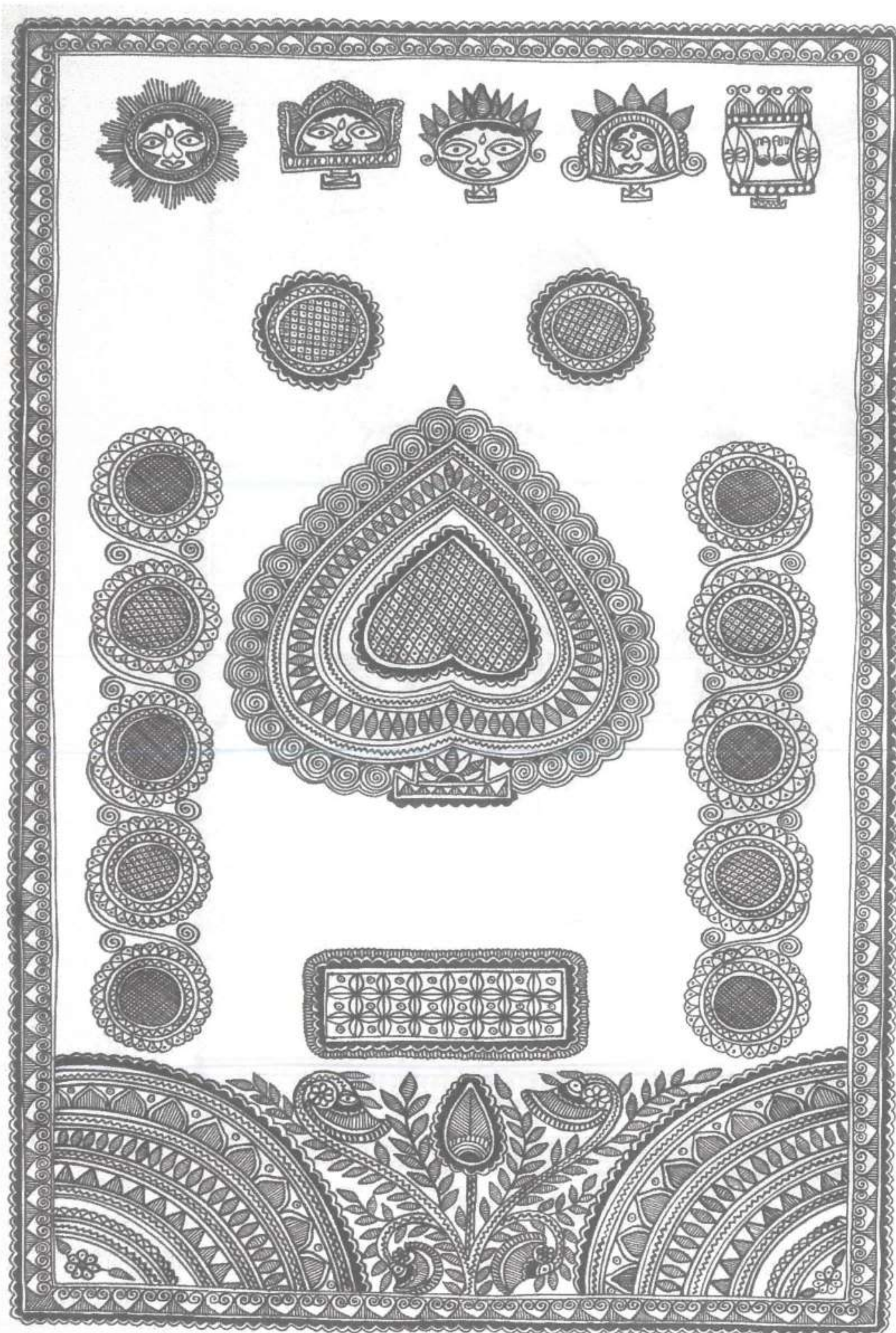
मधुसावनी का प्रसिद्ध पर्व दन्त–कथा, पौराणिक कथा, लोकगीत, चित्रकला और मन्त्रों के साथ पन्द्रह दिनों तक फूल, पत्ते, धूप–दीप और नैवेद्य की परिपाटी में चलता है। मैथिल ब्राह्मण और कर्ण–कायस्थ समुदायों में किसी कन्या के विवाह के प्रथम वर्ष, सावन मास में नाग–पंचमी से प्रारम्भ यह पर्व लगभग पन्द्रह दिनों का होता है जब नव–विवाहिता अपनी सखियों के साथ बहुत सवेरे से फूल और पत्ते जमा करने निकलती है, बिना अन्न–जल ग्रहण किए दिन भर गाँव भर की स्त्रियों के साथ श्रद्धा पूर्वक रामायण–महाभारत और दन्त कथाओं का श्रवण करती है और अपने पति के कल्याण के लिए नागदेवी विषहरा की आराधना करती है। इस पूजा के लिए मैना के बड़े पत्ते पर एक सौ आठ नाग बनाए जाते हैं। इस अवसर पर पुरैन अरिपन, पान अरिपन, पंचदेवता, सूर्य–चन्द्रमा, खटवार अरिपन बनाए जाते हैं और स्वयं व्रती नव विवाहिता अद्भुत श्रृंगार करवाती है जिसे 'पटमाइस' कहा जाता है।



मधुस्रावनी अरिपन

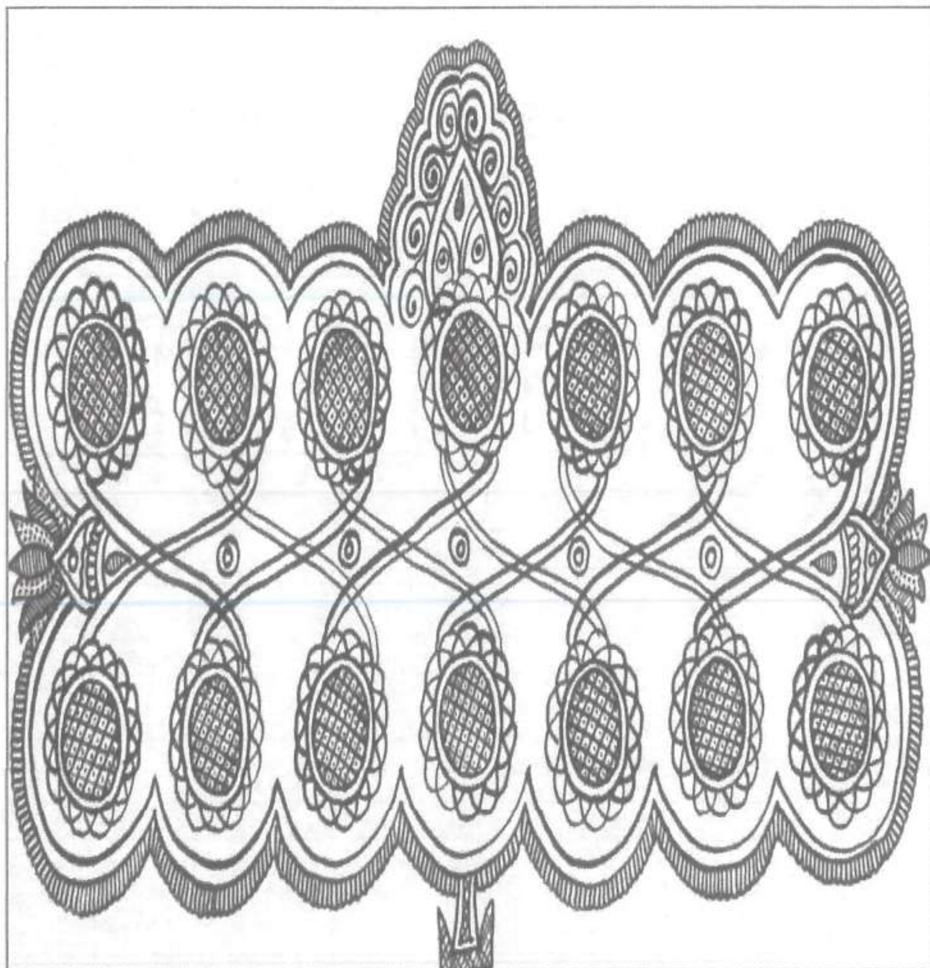
मधुस्रावनी व्रत का प्रारम्भ **नागपंचमी** के दिन होता है जब वर्षा ऋतु में समस्त हिन्दू जाति के लोग सर्प–भय से रक्षा के लिए नाग की पूजा करते हैं। नाग–पूजा के लिए कोई खास अरिपन तो नहीं बनाया जाता है, किन्तु सूर्योदय से पूर्व प्रत्येक घर की अभिभावक महिला अपने घर के बाहरी दीवाल पर नाग–पाश बनाती है और कुलदेवता के आगे भी नाग बनाती है।

भाद्र मास में **''चतुर्थी चन्द्र–पूजन''** या ''चौरचन'' का पर्व होता है। इस दिन आँगन में विस्तृत पान–अरिपन, पंचदेवता सहित चन्द्र–यन्त्र और अर्घों की संख्या के अनुसार पुरैन अरिपन बना कर संध्या काल चन्द्रमा की पूजा की जाती है।



चौरचन अरिपन

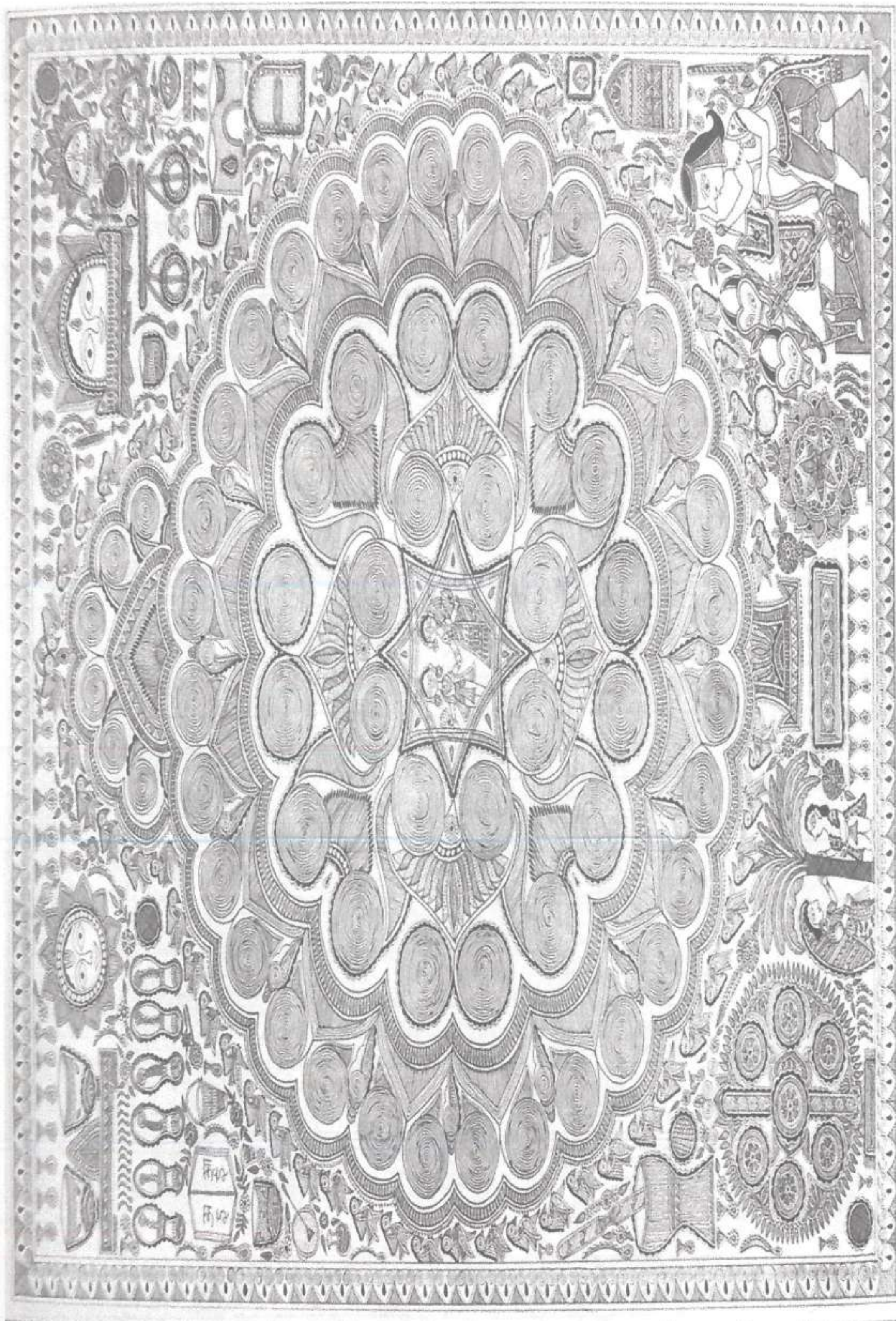
आश्विन मास में **गवहा (गाभा) संक्रान्ति पर्व** का आयोजन होता है। यह पृथ्वी, गौ और विश्व–कल्याण के लिए सृष्टि के पालक विष्णु की आराधना का पर्व है। इस दिन कुमारी कन्या प्रातः काल चौदह पुरैन अरिपन बना कर उस पर गाय के गोबर की चौदह चिपड़ी पाथती है और उन चिपड़ियों पर चावल का श्वेत पिठार, कुम्हर के फूल, और सिन्दूर लगाती है। इसके बाद परिवार की गुणी महिला आँगन में विस्तृत 'अष्टदल' अरिपन बनाती हैं। जिस परिवार में कोई स्त्रो गर्भवती रहती है उसके आँगन में **'अष्टदल'** के स्थान पर **'ककबा'** अरिपन बनाया जाता है।



गाभा संक्रान्ति अरिपन



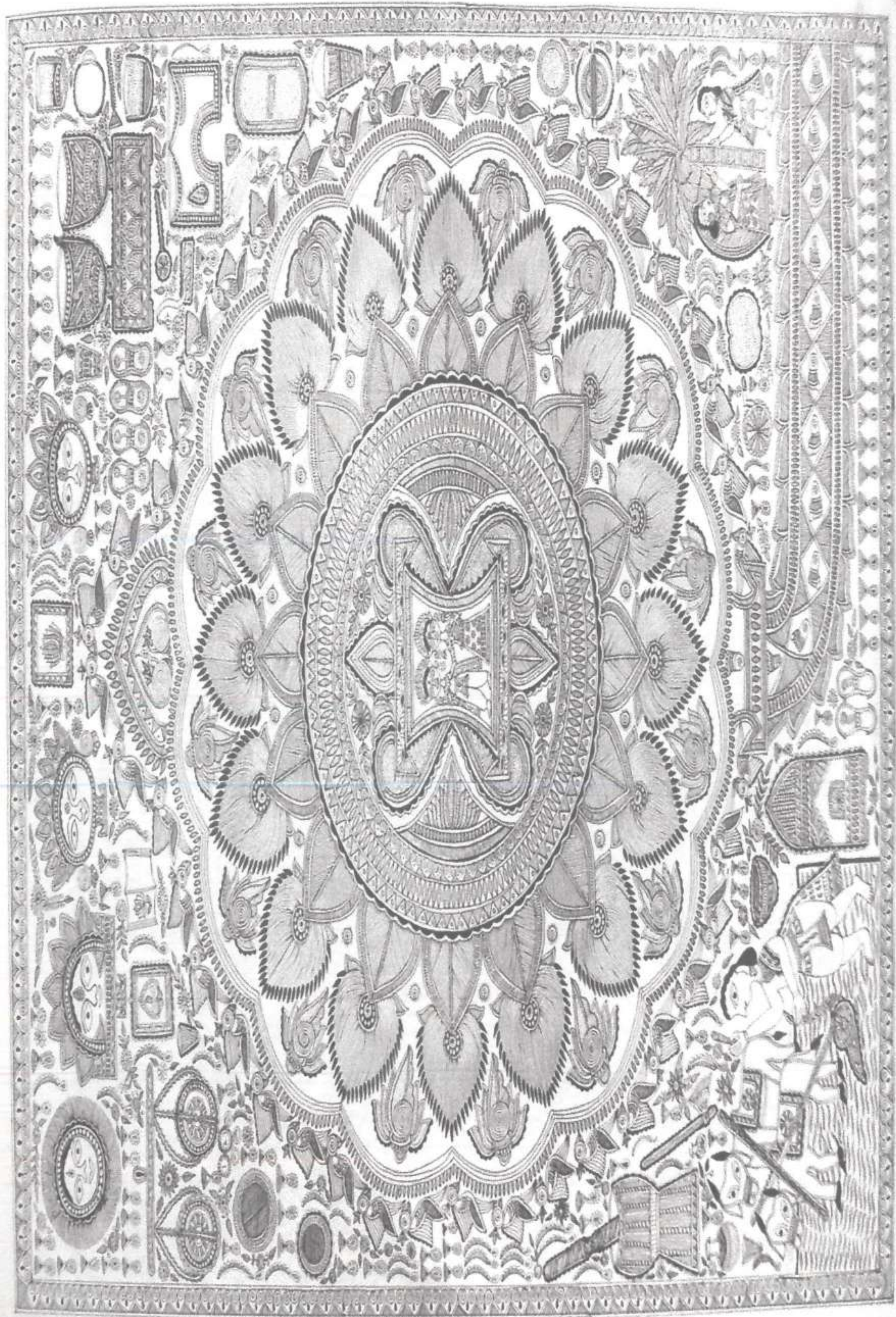
ककबा (विष्णु अरिपन)



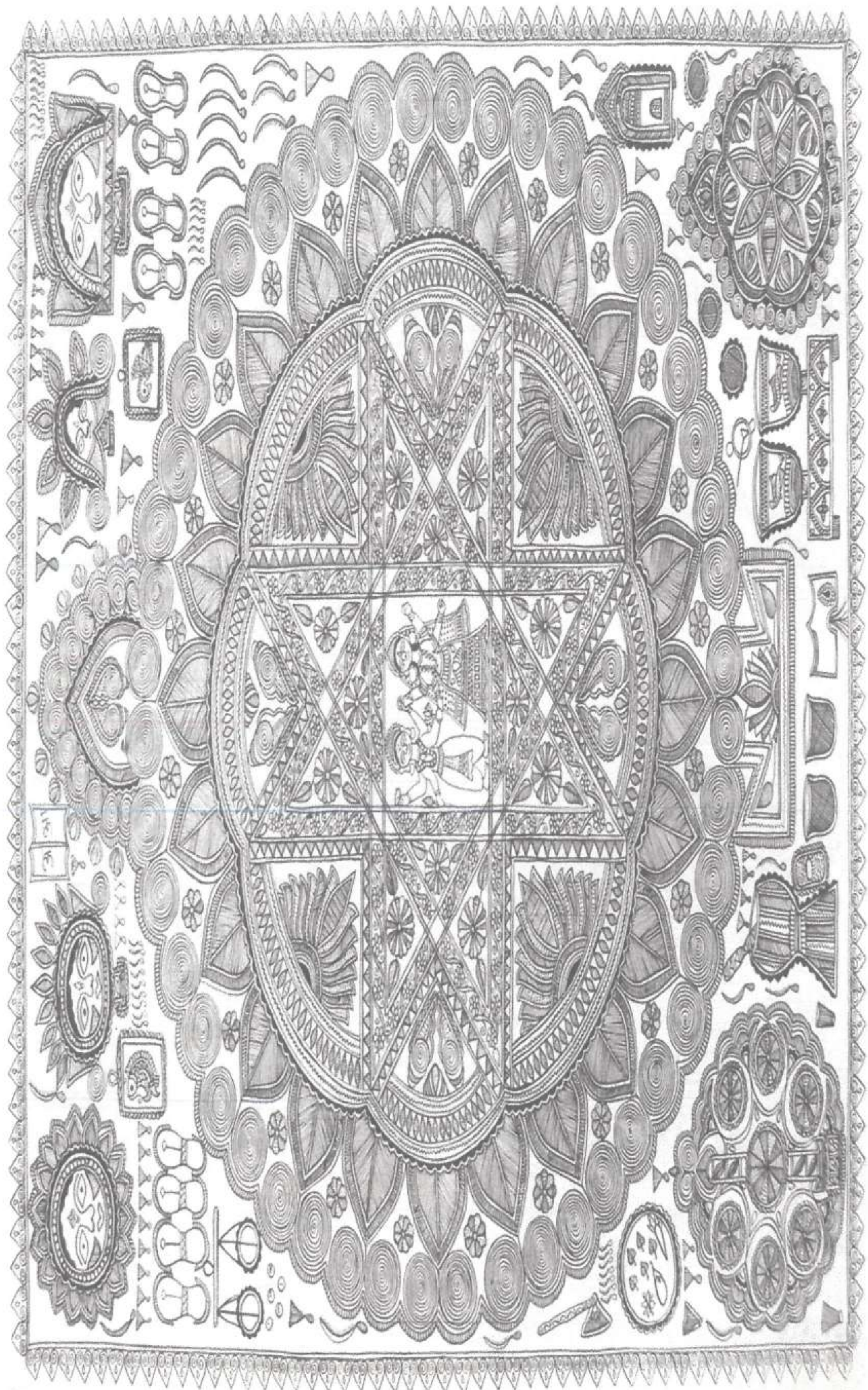
व्रत–अरिपनों में सर्वाधिक विविधतावाले अरिपन **'अष्टदल'** या विष्णु–अरिपन हैं। मिथिला में भूमि पर बननेवाले अरिपनों में यह सबसे अधिक विस्तृत होता है। रूपों की विविधता दर्शाने के लिए इसके कतिपय रूप यहाँ दिए जा रहे हैं।



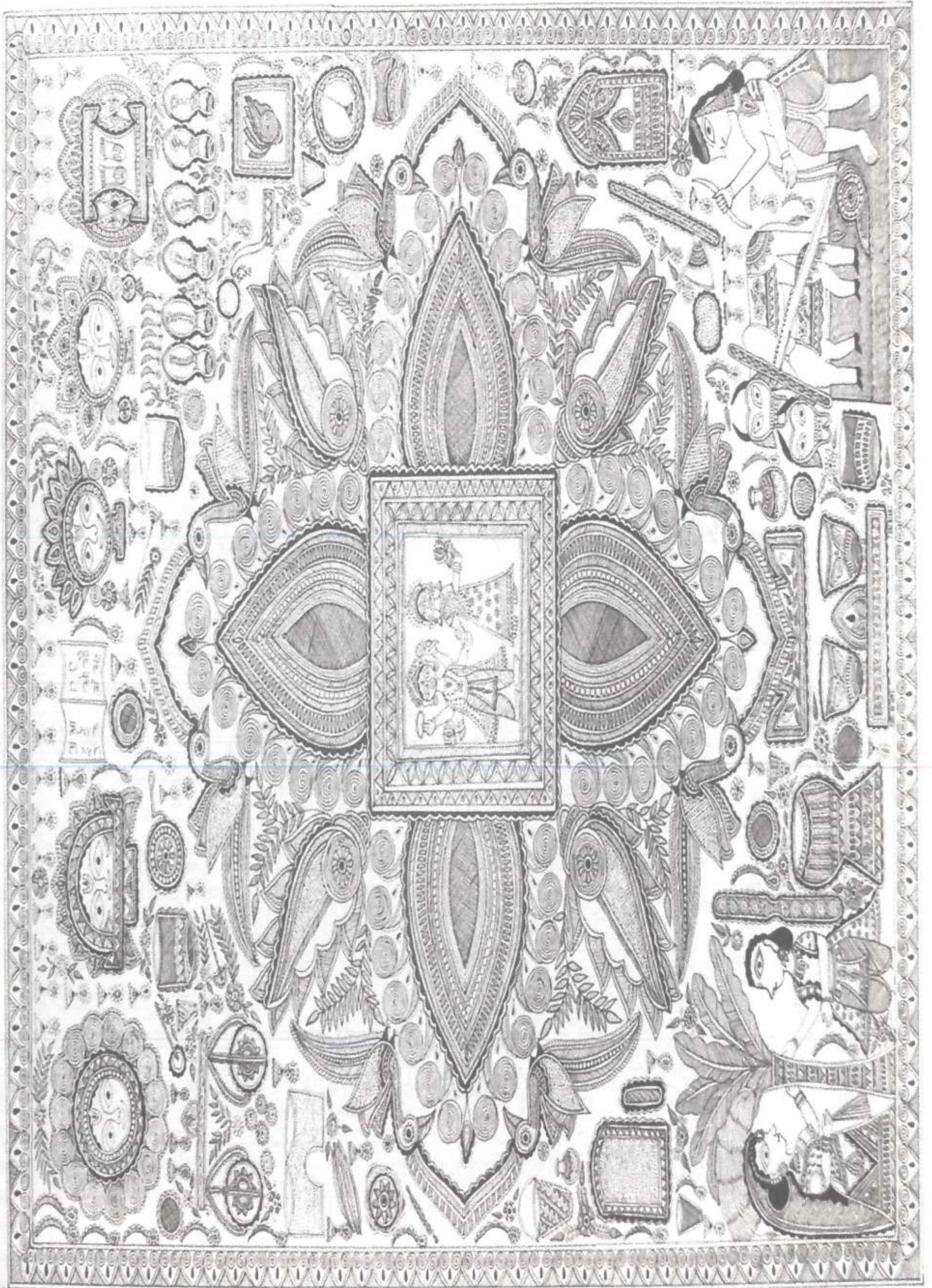
देवोत्थान (विष्णु अरिपन)



देवोत्थान अरिपन

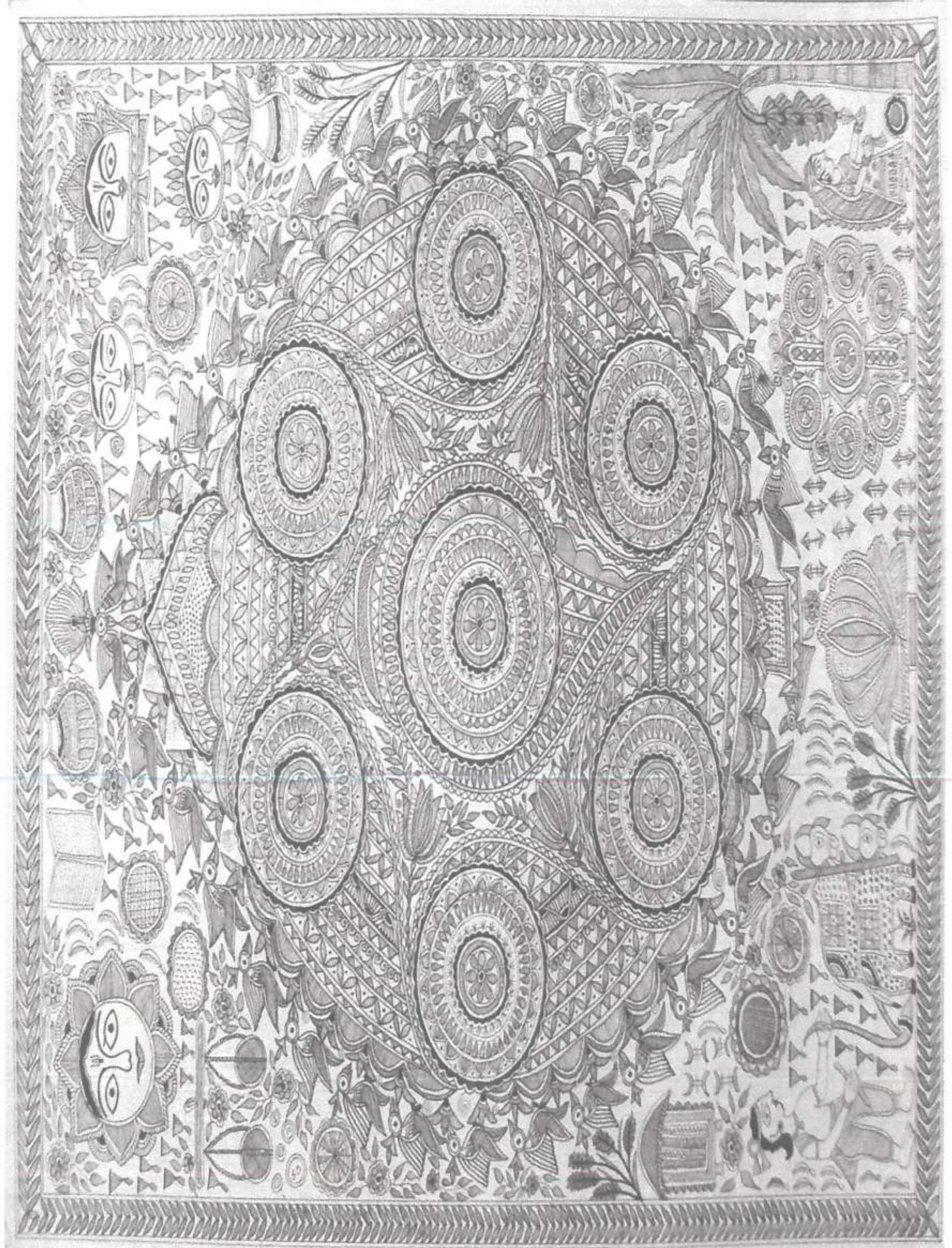


देवोत्थान अरिपन



चौशंख (विष्णु अरिपन)

चौशंख (विष्णु अरिपन)



सतशंख (विष्णु अरिपन)

दुर्गापूजा दस दिनों तक चलनेवाला व्रत, पूजा, पाठ और गीत–नाद का त्योहार है जो आश्विन मास में आयोजित होता है। इस अवसर पर मिथिला की गृहस्थ महिलाएँ कलश–स्थापन के दिन अपने निवास–कक्ष के द्वार पर पंचदेवता और दुर्गा के चित्र बनाती हैं।

कोजागरा सुख–रात्रि का विलास–पर्व है। नव–विवाहित वर इस दिन अपने ससुराल से अनेक प्रकार के उपहार के साथ विदा किए जाते हैं। इस दिन संध्या काल भूमि पर ''चुमान अरिपन'' बनाया जाता है और रात में लोग पान, मखान, मधुर खाते हैं।

दीया–बाती या **दीपावली** का व्रत कार्तिक मास में होता है। इस दिन लक्ष्मी जी की आराधना में विस्तृत ''अष्टदल'' और पनमा अरिपन का आलेखन किया जाता है।

भातृ द्वितिया का पर्व दीपावली के दो दिन बाद कार्तिक मास में होता है। इस दिन कायस्थ जाति क लोग अपने परम पिता भगवान चित्रगुप्त की आराधना करते हैं और भाई अपनी बहन के घर जा कर उसकी शुभ कामना लेता है। इस अवसर पर बहन भूमि पर भातृद्वितिया अरिपन बना कर भाई का न्योता लेती है और उसके दीर्घ जीवन की कामना करती है। भाई–बहन का यह पर्व प्रायः सभी हिन्दू जातियों में मनाया जाता है।

छठ पर्व दो दिवसीय सूर्य–आराधना का पर्व है जो दीपावली के छठे दिन (कार्तिक मास में) प्रारम्भ होता है। इस पव का आयोजन किसी नदी या तालाव के तट पर होता है। इस अवसर पर, घाट पर पुरैन और सूर्य का आलेखन किया जाता है।

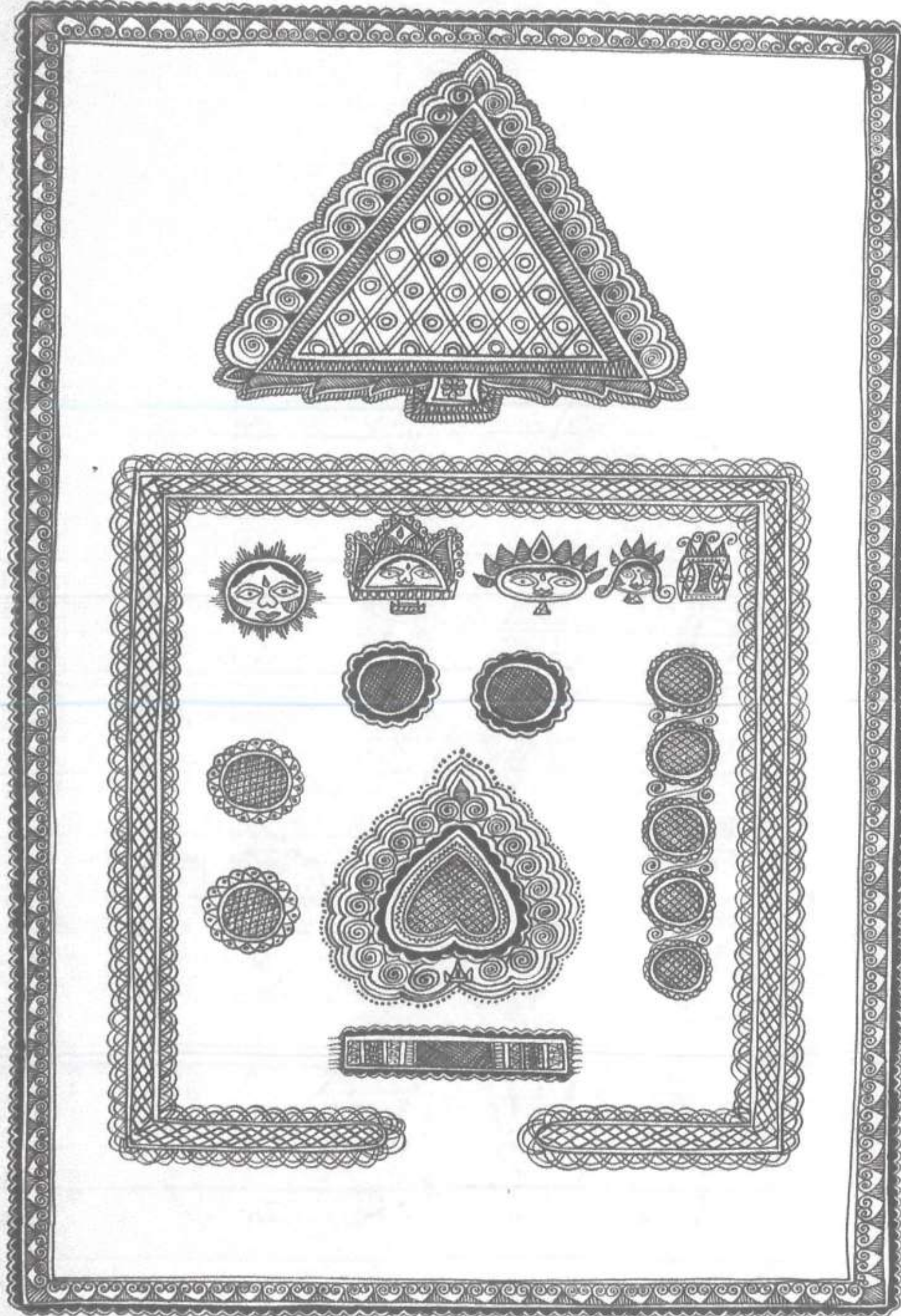
देवोत्थान एकादशी का व्रत मिथिला के गार्हस्थ्य जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण पर्व है। इस दिन माना जाता है कि मिथिला की बेटी लक्ष्मी जी अपने पति श्रीविष्णु के साथ अपने मायके आती हैं। उनके निवास के लिए भूमि पर सुविस्तृत ''**अष्टदल**'' अरिपन बनाया जाता है जिसके केन्द्र में ''**ककबा**'' अरिपन होता है, भगवान और भगवती का शयन–कक्ष। मुख्य अरिपन के चारों ओर घर–गृहस्थी में काम आनेवाले सभी प्रकार की वस्तु जैसे चुल्हा, तराजू, घड़ा, कुदाल, खुरपी, भोजन बनाने के वर्तन, पुस्तक, कलम, स्लेट–पाटी, कोठी, ओखल–मूसल, मठ और जो कुछ शिल्पी व्रती अपनी कल्पना–शक्ति से बना सकती हो, इस अरिपन में अंकित किया जाता है। यह अरिपन अनेक कारणों से विशिष्ट है। इसमें एक सामान्य गृहस्थी के सामान भी होते हैं, अत्यन्त परिष्कृत ज्यामितिक आरेख भी, आकृतिक कथाचित्र भी और विष्णु के कृष्ण–रूप की प्रेम–कथा भी। इस अरिपन में एक तरफ हल जोतते एक पुरुष, झाडू से आँगन बुहारती एक स्त्रो, किसी पेड़ (खास कर केले के पेड़ों के झुरमुट में) की ओट में प्रेम करते एक स्त्रो और पुरुष को दिखलाया जाता है। इस प्रसंग को **''राहि–दामोदर''** कहा जाता है। महाकवि विद्यापति ने अपने गीतों में राधा को 'राहि' कहा है –– ''अमिअ सागर तुहु से राहि, मुकुन्द मातंग बिहर ताहि।'' (हे राधे, तुम अमृत के सागर के समान हो और मस्त हाथी की तरह कृष्ण ने उसमें विहार किया है)। दन्तकथा के अनुसार, विष्णु अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ उसके नैहर (मायका) आये हैं किन्तु उतने दिनों तक विष्णु (कृष्ण) राधा से पृथक नहीं रह सकते। इसलिए गुप्त रूप से दोनों ने तय किया कि राधा 'राहि' नाम से गाँव के एक भाग में घर बना कर रहेगी और कृष्ण 'दामोदर' नाम से किसान बन कर हल जोतने के लिए खेत में जायेंगे जहाँ केले के झुरमुट में दोनों का प्रेम–मिलन होगा।

इस प्रेम–प्रसंग के अतिरिक्त एक और रोचक प्रसंग इस अरिपन के साथ जुड़ा है, **'पोनचौक'**। मैथिली में पोन कहते हैं नितम्ब को और चौक कहते हैं अरिपन को, अर्थात पोनचौक का अर्थ हुआ नितम्ब से बनाया गया अरिपन। यह अद्भुत प्रसंग क्या है? दन्तकथा में इसका स्पष्टीकरण हुआ है। कहते हैं, सभी गुणी शिल्पी महिलाओं को अरिपन बनाते देख कर किसी 'मठवासी' नामक अकुशल महिला ने सोचा कि कृष्ण या विष्णु तो उसी के घर जायेंगे जिसके आँगन में उनके स्वागत में सुन्दर अरिपन बने होंगे, किन्तु वह तो अरिपन बनाना जानती नहीं है, तो फिर उसके यहाँ कृष्ण (विष्णु) कैसे आयेंगे? अगत्या, वह अपने नितम्ब में पिठार लगा कर भूमि पर बैठ गयी। इस उपाय से भूमि पर नितम्बाकार एक छाप उत्कीर्ण हो गयी, पोनचौक। कहते हैं, देर रात गये कृष्ण आये और यह देखने निकले कि किस आँगन में किस तरह के अरिपन बने हैं, उनके स्वागत में। 'मठवासी' के आँगन में बने 'पोनचौक' देख कर वह बहुत प्रभावित हुए। मठवासी के निर्दोष प्रेम ने विष्णु का मन जीत लिया, उसके घर ठहर गए भगवान, मठवासी निहाल हो गयी। यह एक परंपरा भी है कि महिलाएँ एक–दूसरे के आँगन जा कर अरिपनों की सज्जा देखती हैं। अरिपन के शीर्ष भाग में अंकित द्यु–मण्डल (नक्षत्र–मण्डल) जहाँ इसके तान्त्रिक लक्षणों का समर्थन करता है वहीं अरिपन क अधोभाग में अंकित 'कोबर' और घरेलू उपयोग के अवयव इसके लौकिक स्वरूप की भी पुष्टि करते हैं।

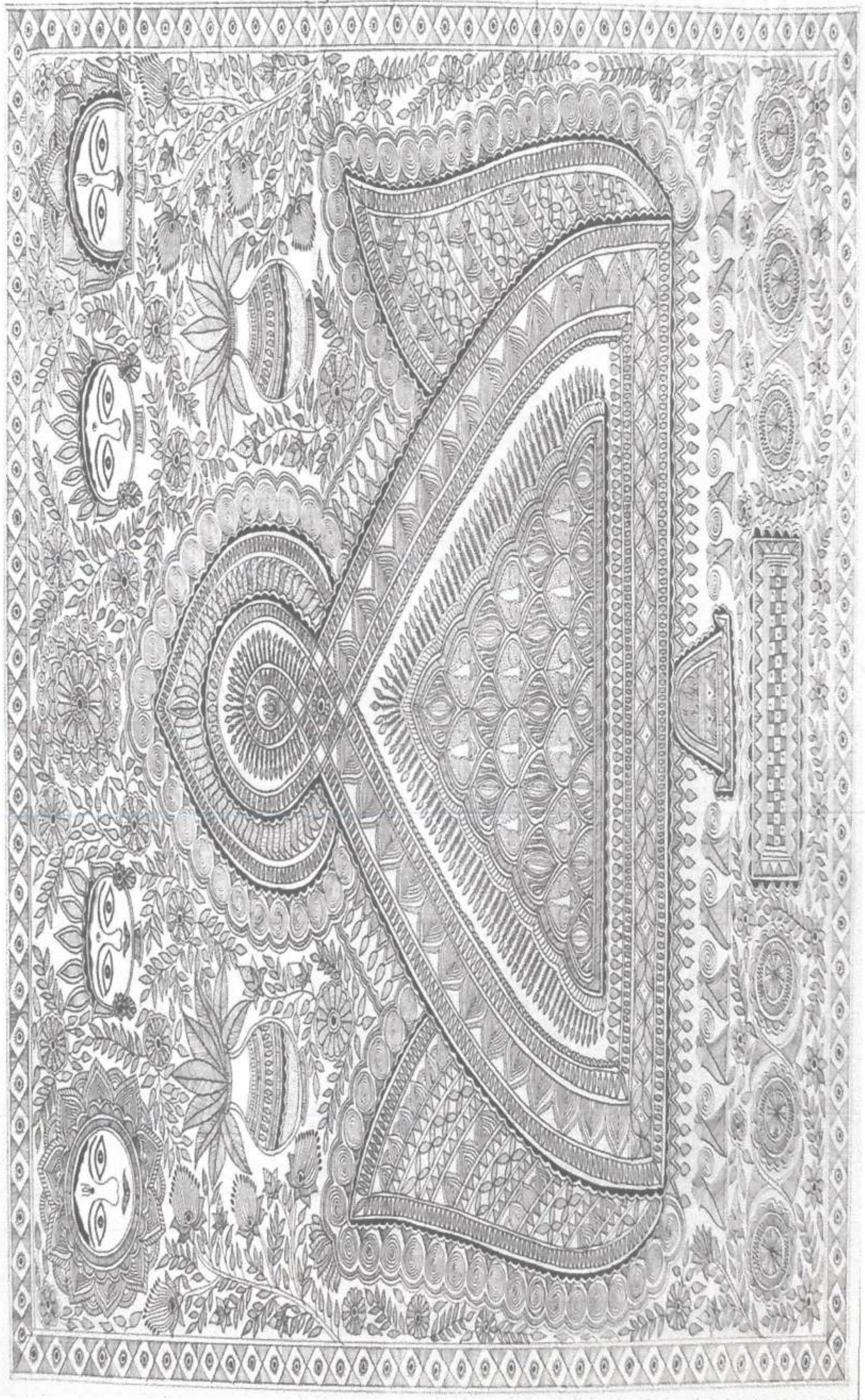


अष्टदल (विष्णु अरिपन)

तिला संक्रान्ति (मकर संक्रान्ति) का पर्व जहाँ एक ओर सामान्य हिन्दू परिवारों के लिए नये अन्न के पकवानों का पवित्र धार्मिक पर्व होता है वहीं नव विवाहित स्त्रियों के लिए यह निस्तार का पर्व होता ह। पौष मास में आयोजित होनेवाले इस पर्व में व्रती स्त्रियों द्वारा पूजन के लिए **'खटवार'** (छः द्वारोंवाला यन्त्र) का आरेखन किया जाता है जिसके भीतरी भाग में पुरैन, पान अरिपन, पंचदेवता और अठाइस कोष्ठकोंवाला विशिष्ट अरिपन "**राशि**" बनाया जाता है। इस अरिपन को "**भतराइस अरिपन**" भी कहते हैं। आरखन में अंकित अठाइस कोष्ठक स्त्रियों के अठाइस दिनों के रजमास का द्योतक है।



खटवार



राशि या भतराशि अरिपन



राशि या भतराशि अरिपन

'सामा–चकेवा' भी मिथिला की स्त्रियों के शिल्प, गीत, कथा और भाई–बहन के प्रेम का अनूठा पर्व है। कार्तिक मास में आयोजित होनेवाला यह पर्व लगभग नौ दिनों का होता है जब रात के समय कुछ परिवारों की महिलाएँ समूह बना कर अपने भाइयों के नाम लेकर गीत गाती हैं और उनकी अभिवृद्धि की कामना करती हैं। इस पर्व में महिलाएँ मिट्टी से सामा, चकेवा, वृन्दावन, सतभैया, खुरलुच, चुगला आदि की मूर्ति बनाती हैं और भसान के दिन पुरैन अरिपन बना कर सभी मृणमूर्तियों की विदाई करती हैं।

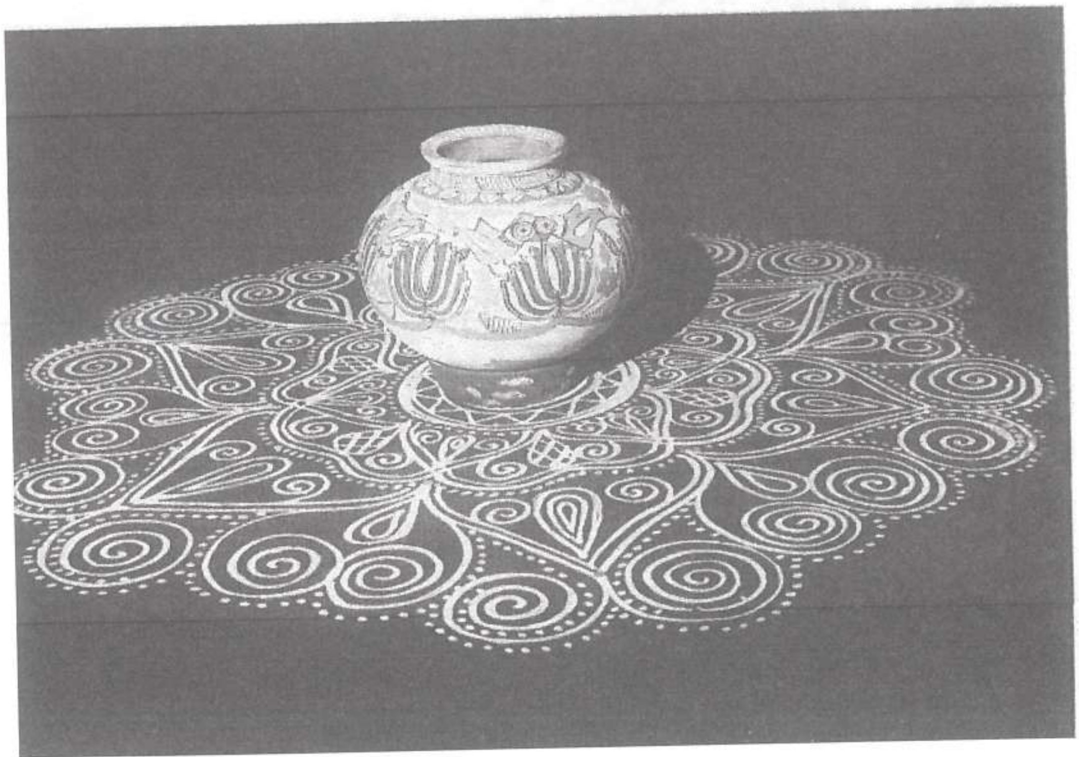
रवि–शनि का व्रत अगहन मास में प्रारंभ होता है। इस व्रत में पुरैन और सूर्य के आरेख बनाए जाते हैं। इसी मास के एक अन्य व्रत, नवान्न में सभी हिन्दू स्त्रियाँ सूर्य को नये अन्न का पहला अर्घ अर्पित करती हैं। इस व्रत में भी पुरैन अरिपन के अतिरिक्त सूर्य का आरेख बनाया जाता है।

वसन्त पंचमी और **होली** वसन्तोत्सव के पर्व हैं। वसन्त पंचमी को सिरपंचमी (श्रीपंचमी) भी कहते हैं। इस दिन से गाँव के लोग होली के गीत गाना प्रारम्भ करते हैं। वसन्त पंचमी के लगभग चालीस दिन बाद होली का रंग–पर्व 'फगुआ' मनाया जाता है। इन दोनों अवसरों पर भगवती के सम्मुख पुरैन और पान–अरिपन का आलेखन किया जाता है और पुरैन पर अबीर रख कर भगवती को अर्पित किया जाता है।

सपता–विपता कथा सुनने के साथ व्रत है जो होली के प्रात होता है। व्रती स्त्रो पूजा–स्थल पर सूर्य, पंचदेवता, पुरैन और पान–अरिपन बना कर अपने हाथों में हरे दूब रख कर कथा सुनती हैं।

जूड़–शीतल का पर्व होली के एक मास बाद, बैसाख मास में होता है। इस दिन व्रती स्त्रियाँ पनमा अरिपन और पंचदेवता का आलेखन करती हैं।

बरिसाइत का व्रत मैथिल स्त्रियों के दीर्घ दाम्पत्य जीवन का प्रमुख व्रत है। ज्यष्ठ मास के इस व्रत में सधवा स्त्रियाँ बरगद (वर) वृक्ष की छाया में पान अरिपन, पुरैन और पंचदेवता के आलेखन के अतिरिक्त नव विवाहिता अपने माथे पर सिन्दूर से सज्जा (पटमाइस) करबाती हैं, मिथिला की परंपरागत कला 'कनिञा–पुतरा' (कपड़े से बनी गुड़िया) बनाती हैं और मृणपात्र (पुरहर–पातिल) को चित्र से सज्जित कर लोगों में बाँटा जाता है।



वैवाहिक कुलीन अरिपन

मिथिला में कुलीनवाद की स्थापना कर्णाट शासन–काल (1097–1325 ईस्वी) में हुई। कर्णाटवंश के संस्थापक नान्यदेव भारत के सुदूर दक्षिणी राज्य कर्णाटक से आये थे जिनके साथ हजारों की संख्या में कर्णाटकी जन–समुदाय मिथिला आया और ''कर्ण–कायस्थ'' जाति–नाम से संगठित हुआ। इस लेखिका (शशिबाला) के पिता उग्र नारायण लाल के अनुसार (**कर्ण–कायस्थ वंशावली**), कर्णाटक के जिन स्थानों से चल कर लोग मिथिला आये, उन स्थानों को ''**पंजी–व्यवस्था**'' में '**मूल**' कहा गया। पहली खेप में चौदह मूल के लोग मिथिला आये –– बलाइन, वीअर, शीशव, कोठीपाल, नरंगवाली, पकली, बत्तिकवाल, माण्डीछ, अठहर, ओए, महुनी, गढ़कव, वसन्तपुर और गढ़निधि। विस्थापन का वह प्रवाह नान्यदेव के पुत्र गंगदेव के शासन–काल तक, लगभग सौ वर्षों तक जारी रहा और अन्ततः 360 मूल के लोग आगे चल कर कायस्थों की पंजी में सूचीबद्ध हुए। कला और संस्कृति की अति समृद्ध द्रविड़ सभ्यता में पोषित जन–समुदाय जब मिथिला की यज्ञ–भूमि को अपना कर्म–क्षेत्र मान कर सुव्यवस्थित हुआ तो राजा के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न उनकी सांस्कारिक और धार्मिक परिपाटी का नव–प्रबंधन था। नये देश–कोस की बदली परिस्थिति में धार्मिक और वैवाहिक नियमों को संहिताबद्ध करने का प्रयास यद्यपि कि गंगदेव (1147–1227 ईस्वी) के समय से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु राजा रामसिंह देव (1227–'76) ने प्रत्येक धार्मिक कृत्य और वैवाहिक कर्म–काण्डों की सविध व्याख्या, और प्रत्येक कृत्य के साथ कायस्थों की कौलिक चित्रकला के साथ ही स्थानीय विभिन्न समुदायों की शिल्पकला की अनिवार्यता का विधान निश्चित कर दिया। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि ''चतुर्थी चन्द्र–पूजन'' (चौरचन) का व्रत करना है तो उक्त अवसर पर किस प्रकार का अरिपन आँगन में और किस प्रकार का आलेखन कुलदेवता के आगे में किया जायगा इसके विनिर्धारण के साथ ही कुम्हकार से कलश, मटकूड़ी, ढकना (मृणपात्र) और सामाजिक व्यवस्था में अत्यन्त उपेक्षित, डोम के बाँस–शिल्प, पथिया–कोनिञा आदि की अनिवार्यता भी तय की गयी। इसी तरह वैवाहिक विविध कर्म–काण्डा में भिन्न–भिन्न प्रकार के चित्र और अरिपन की लिखिया के साथ ही धोबी, हजाम, कुम्हकार, चर्मकार, माली, बढ़ई, धानुक, कहार आदि विभिन्न जातियों की सेवा और उनकी शिल्पकला भी भिन्न–भिन्न बिधों में निश्चित की गयी। यहाँ से सामाजिक व्यवस्था में उपेक्षित जातियाँ कायस्थों के धार्मिक और मांगलिक अवसरों के सहयोगी बने। उनकी सहभागिता को आशोर्वाद माना गया। जो कभी पहले अछूत माने गये थे उनकी शिल्पकला को राजाज्ञा द्वारा 'शुभकारक' मान्यता प्रदान की गयी। उनके कार्यों का सम्मान के साथ ही आर्थिक मूल्य प्राप्त हुआ। उन्हें ''**पौनी–पसारी**'' का दर्जा (आर्थिक मूल्य पानेवाला पेशेवर) मिला। सभी सहयोगी शिल्पियों को विवाह के अवसर पर सम्मान–सूचक लाल धोती, लाल साड़ी, वस्तु या सेवा का मूल्य, पर्व में पकवान और हरेक फसल की कटाई में 'अगौं' देने का नियम बन गया। इन नियमों के परिपालन और इससे सम्बंधित विवादों के निपटारे के लिए राजा ने प्रत्येक गाँव के लिए एक अधिकारी, पटवारी की नियुक्ति की। पटवारी सांस्कृतिक और धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त राजस्व सम्बंधी कार्य भी देखता था। यहाँ प्रसंगवश यह जानना उचित होगा कि कर्णाटवंश के संस्थापक नान्यदेव की मृत्यु के बाद उनका पुत्र गंगदेव सन् 1147 ईस्वी में सत्तासीन हुए। गंगदेव के समय में कई महत्वपूर्ण ऐसे कार्य हुए जिनका कालजयी प्रभाव समाज पर पड़ा। गंगदेव ने पूरे राज्य–क्षेत्र को 'परगना' अथवा राजस्व–जिला में बाँटा जिसका प्रमुख चौधरी (आज के जिला कलक्टर की तरह) होता था। पहली बार ग्राम–पंचायत का गठन भी इसी समय में हुआ। गंगदेव ने धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों का विभाग, धर्माकरणिक विभाग प्रारम्भ किया जिसके साथ मिथिलाक्षर और कैथी लिपियों का उद्भव हुआ। इसी काल में राजस्व–अभिलेख की सुव्यवस्थित प्रणाली प्रारंभ हुई जिसके लिए कैथी लिपि का प्रयोग होता था जबकि सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्यों में मिथिलाक्षर या तिरहुता का प्रयोग होता था।

गंगदेव की मृत्यु के बाद उनका पुत्र रामसिंहदेव ने अपने पिता द्वारा स्थापित परिपाटी को और भी आगे बढ़ाया और सुदृढ़ किया। रामसिंहदेव परम विद्वान और धार्मिक संहिताओं के उद्भट व्याख्याकार थे। उन्होंने कायस्थ महिलाओं के गीत, चित्र, साक्षरता और शालीनता को कुलीनता का मानदण्ड बना दिया। (कर्णाटक और तमिल नाडु की स्त्रियाँ आज भो सूर्योदय और सूर्यास्त से पूर्व अपने घर के आगे और कुलदेवता के आगे 'कोलम' अरिपन बनाती हैं)। राजा रामसिंहदेव के नियमन के बाद विभिन्न सांस्कारिक और सांस्कृतिक अवसरों पर कर्णाटकी संगीत पर आधारित रागोंवाले शुभगीतों (गोसाओनी गीत) के साथ भूमि पर उंगलियों के संचालन

से, भित्ति पर पिहुआ से और कागज तथा कपड़े पर कलम से अरिपन लिखना महिलाओं का कुलीन कर्त्तव्य हो गया। साहित्य, कला, तन्त्र और कौलिक गरिमा से संपृक्त अरिपनों के पारम्परिक उपयोग पर राजाज्ञा का समर्थन पा कर कायस्थ स्त्रियाँ गुणवती बने रहने का अक्षय वरदान पा गयीं और मिथिला के नये देश–कोस में संस्कारों से जुड़ कर अरिपन भी अमर हो गए। किन्तु प्रकृति की निरन्तरता का एक सत्य यह भी है कि प्रकाश के साथ ही अंधकार जुड़ा रहता है, जैसे सूर्य के पीछे राहु लगा रहता है। कर्णाटवंशी शासन के दो सौ वषो से अधिक का समय बीत चुका था जब इस वंश के अन्तिम महान राजा हरिसिंहदेव अपने पिता शक्तिसिंहदेव की मृत्यु के बाद, सन् 1307 ईस्वी में शासनारूढ़हुए। उस समय उनकी आयु मात्र आठ या दस वर्षों की थी। उस समय तक तिरहुत की स्थानीय गैर–कर्णाटकी षडयंत्रकारियों ने राजभवन में अच्छी पैठ बना ली थी और वे किसी ऐसे उपाय की खोज में थे जो कर्णाटकी राजवंश का शासन समाप्त करा सके। अवयस्क राजा नियमतः अपने मंत्रियों के अधीन कार्य करते थे और उनके हरेक निर्णय पर अपनी स्वीकृति दने के लिए वाध्य थे। कुटिल मंत्रियों न राजध्वंश के लिए इतिहास से अस्त्र लिया।



मिथिला से पहले बंगाल के कर्णाटवंशी सेन–शासन को समाप्त करने के लिए 'कुलीन–अकुलीन ब्रह्मास्त्र' का प्रयोग किया गया था। मिथिला में भी कुटिल राजनीतिज्ञों ने इसी विष–यन्त्र का प्रयोग किया। राजभवन से ले कर कायस्थ–समाज के विपुल जन–समदाय तक फैली शिक्षा, कला और सामाजिक गरिमा को कुलीनता का मापदण्ड मान कर उसे अपने ही समाज के लोगों के बीच, कुटिल दरवारियों ने कुछ कायस्थों को काल्पनिक आधार पर अधिक शालीन और कुछ को घटिया स्तर में परिगणित करने का विवाद, प्रलयंकारी जातीय बवण्डर खडा कर दिया। राजाज्ञा से ब्राह्मण और कायस्थों के लिए जन–गणना प्रारम्भ हुई। यह जानबूझ कर उस समय शुरू हुआ जब राजा अवयस्क होने के कारण कुटिल षडयंत्रकारियों की चाल नहीं समझ सकते थे। जन–गणना के बाद कायस्थों को कुलीन तथा गृहस्थ (अकुलीन) कोटि में बाँट दिया गया। कुलीन–अकुलीन के विभेद ने कायस्थों की सम्पूर्ण जातीय एकता, उनकी सम्मिलित गरिमा और ऐतिहासिक शक्ति को छिन्न–भिन्न कर दिया। अपने ही समाज का एक बड़ा वर्ग सामाजिक अवमूल्यण के कारण राजा से पहली बार असन्तुष्ट हो गया। इस जन–असन्तोष का लाभ उठा कर षडयंत्रकारियों ने सन् 1324–'25 ईस्वी में

सुल्तान गियास–उद्–दीन तुगलक के साथ दुरभिसंधि कर ली, जो बंगाल पर आक्रमण के लिए अभियान पर निकला था। सुल्तान ने बंगाल से वापसी में तिरहुत (मिथिला) की पहाड़ियों की ओर रुख किया जिधर राजा हरिसिंहदेव सेना के साथ क्षेत्र–निरीक्षण के लिए निकले थे। एक स्थल पर दोनों सेना आमने–सामने हुई। वयस्क होने के साथ हरिसिंहदेव जन–असन्तोष के कारणों को समझने लगे थे। वे जन–सहयोग के प्रति आश्वस्त नहीं थे। सामने में मुसलमानों की बर्वर सेना देख कर राजा ने क्षण भर विचार किया और परिस्थिति की मांग समझकर संकटकाल में सेना के प्राण बचाने को प्राथमिकता दी। उन्होंने बिना सेना को संकट में डाले उसका रुख जंगल की ओर मोड़ दिया जिधर उनका सुरक्षित राजभवन था, तिरहुत और नेपाल की सीमा पर स्थित सिमराओनगढ़। राजा अपने भितरघाती दरवारियों के षडयंत्र और पंजी–प्रबन्ध के कारण उपजे कौटुम्बिक द्रोह के परिणाम से अवगत हो चुके थे। राजा के पास विकल्प था। उसने नेपाल पर अपने प्रभुत्व को बढ़ाने और सेना की जान बचाने के उद्देश्य से पलायन करना ही उचित समझा। कुलीनता के नाम पर रचे गए पंजी–प्रबन्ध के षडयंत्र क दंश ने 228 वर्ष पुराने स्वर्णिम राज्य–व्यवस्था को पराभूत कर दिया।

मैथिल इतिहासकार उपेन्द्र ठाकुर (History of Mithila) के अनुसार, 1325 ईस्वी में ऐतिहासिक पटल से कर्णाटवंशियों के तिरोभाव होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे मिथिला से समूल नष्ट हो गए। अनेकों पाण्डुलिपियों, अरक्षित शिलालेखों और नेपाली स्रोतों से प्राप्त सूचनानुसार, 1325 ईस्वी के बाद भी कर्णाटवंशी मिथिला के कई भागों में अपना प्रभुत्व और अस्तित्व बचाए हुए थे और उनके नामों के साथ ''कर्णाट चक्रवर्त्ती'', ''मिथिलेश्वर नृपति'' जैसी उपाधियाँ लोक–प्रसिद्ध थीं। यद्यपि कि प्रतापी कर्णाटवंशी शासन–काल में उनका जैसा शाही प्रभाव था, उससे वे वंचित हो गए थे, फिर भी वे मिथिला के कई भागों में 1325 ईस्वी के बाद भी छोटे शासक सरदार बने रहे। मिथिला की वृद्ध–परम्परा के अनुसार, राजा हरिसिंहदेव और सुल्तान गियास–उद्–दीन तुगलक के बीच न तो खुला युद्ध हुआ और न हरिसिंहदेव की सेना की कोई क्षति हुई। यह वह समय था जब ''पंजी–प्रबन्ध'' के कारण कायस्थ–समुदाय में घोर अशांति फैली हुई थी। जो समुदाय राजा के लिए लड़–मर कर भी साथ देने को सदैव कटिबद्ध रहे, वे 'गृहस्थ' (अकुलीन) कोटि में परिगणित किए जाने के कारण अपने–आप को अपमानित अनुभव करने लगे और राजा के प्रति असहयोगी हो गए। लगभग एक दशक से वह असन्तोष राज–प्रशासन की स्थिरता के लिए खतरा बना हुआ था। यद्यपि कि राजा बढ़ती आयु के साथ वातावरण में घुल रही कटुता के कारणों को समझने लगा था, किन्तु उस समय तक राज दरवार में गैर–कर्णाटकी अधिकारियों का वर्चस्व बढ़ जाने के कारण परिस्थिति का नियंत्रण उसके हाथ से निकल चुका था। राजा जान चुका था कि उसके एक तरफ स्वजन का विरोध तो दूसरी ओर कुटिल राजनीतिज्ञों का भितरघात था; एक ओर कुँआ तो दूसरी ओर खाईवाली परिस्थिति थी। यही कारण है कि पहले तो वह सामने में तुगलक की सेना देख कर भी अड़ा रहा, किन्तु शीघ्र ही उसने दिमाग से काम लिया और सेना का रुख जंगल की ओर करके पलायन करना ही उचित समझा। पलायन से एक तरफ तो वे मिथिला की राजसत्ता से वंचित हुए किन्तु दूसरी ओर अपनी उसी सेना के बल पर उन्होंने नेपाल पर अपनी पकड़ और भी सुदृढ़ कर ली। उस समय के फारसी लेखक इसामी ने अपनी पुस्तक ''फतह–उस–सलातीन'' में कहीं भी तुगलक और तिरहुत के राजा के बीच खुले और रक्तरंजित युद्ध का संकेत नहीं दिया है। उसने इतना अवश्य कहा है कि राजा पीछे हँट गया और उत्तरी पहाड़ियों के जंगल में चला गया। तुगलक के तिरहुत अभियान में भाग लेनेवाले लेखक मोहम्मद सद्र उला अहमद हसन दबीर–इ–इद्रिसी उर्फ इख्तिसान ने भी अपनी साहित्यिक रचना ''बसतिन–उल–उन्स'' में इसामी के उल्लेखों का समर्थन किया है। इख्तिसान ने तुगलक की सेना के कूच का अलंकारिक वर्णन करने के बाद उल्लेख किया है कि ''निस्तेज मुख और गिरते हुए पत्ते की तरह अधीर, उसने (हरिसिंहदेव ने) संकटकाल में पलायन से सम्बंधित श्लोक का पाठ किया। उसन संकट से उद्धार के लिए पहाड़ को एक ढाल की तरह लिया और उसके केन्द्रीय भाग में उसी प्रकार अपने लोगों समेत छिप गया जैसे पत्थर में आग छिपी होती है।'' ''त्यक्त्वा स्वपट्टनपुरीम हरिसिंहदेवो दुर्दैव–देशित–पथे गिरिमाविवेस।'' अपने पूर्वजों द्वारा पालित मिथिला से पलायन करके हरिसिंहदेव ने नेपाल पर विजय प्राप्त कर ली और अपने जीवन का शेष भाग वहीं बिताया।

कर्णाट–शासन के पतन के बाद, मिथिला में अगले तीस वर्षों तक मुस्लिम गवर्नरों का आतंक और अराजकता व्याप्त रही। न्याय और कानून नाम की कोई चीज नहीं थी। हर तरफ लूटपाट मची थी। सन् 1353

ईस्वी से सोलहवीं शदी के प्रारम्भिक काल तक मिथिला का शासन मैथिल ब्राह्मणों के हाथ में रहा। ये काश्यप गोत्रोय खरौड़ा–जगतपुर मूल के ब्राह्मण थे जिन्हें कर्णाट राजा ने उनकी विद्वता और सेवा के उपलक्ष्य में वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत ओइनी गाँव प्रदान किया था। इसी आधार पर इन्हें ओइनवार वंशीय शासक के नाम से जाना जाता है। ओइनवार राजाओं ने कर्णाट राजाओं द्वारा पोषित धार्मिक और सांस्कृतिक परिपाटी को बहुत हद तक कायम रखा।

कर्णाट राजाओं ने जिस परिपाटी का गठन किया था उसके कारण कायस्थ स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक उच्चता को पर्याप्त समर्थन मिला। प्रत्येक व्रत–त्योहार और विवाहादि संस्कारों का सम्पादन उनके शुभगीत और अरिपनों के आलेखन से हाता था। अरिपनों का आधार तन्त्र था, किन्तु नये स्वरूप में उनका प्रतीकार्थ बदल गया था। गूढ़ तान्त्रिक कर्म–काण्डों और पंचमकार से मुक्त अरिपनों का गार्हस्थ्य संस्करण स्त्रियों के लिए साहित्य, पुराण, कला, दर्शन और लेखनीय दक्षता का माध्यम बनने के साथ ही उनकी कुलीनता का परिचायक बन गया। ये अरिपन कभी चावल के श्वेत रंग से भूमि पर, कभी पिहुआ (घरेलू ब्रश) द्वारा रंग से भित्ति पर, कभी कागज तो कभी वस्त्र पर बनाए जाते थे जो आज तक कायस्थ समाज में कमोबेश बिना परिवर्त्तन के नियमित हैं। व्रतों के अतिरिक्त वैवाहिक अवसर पर अरिपन का व्यापक प्रयोग विधिक है।

कर्ण–कायस्थों के समाज में आज भी जब किसी वर का विवाह निश्चित होता है, तभी से बड़े साइज के कागज पर छः अरिपन बनवाए जाते हैं, जिन चित्रित कागजों में विशेष विधि से सिन्दूर लपेटे रहते हैं। सिन्दूर के इन पैकेटों का उपयोग भिन्न–भिन्न विधि के अन्तर्गत किया जाता है। सिन्दूर का पहला पैकेट, जो लाल रंग से **कमलदह** चित्रित कागज में लिपटा रहता है, "साँकर बिध" के लिए निर्धारित रहता है। इस बिध का अवसर उस समय आता है जब कन्यागत के द्वार पर बारात का स्वागत और वर का वस्त्रालंकरण (परिकामिनी) सम्पन्न हो जाता है। इसके बाद वर आँगन पधारते हैं जहाँ वर और कन्या सम्मिलित रूप से वैवाहिक बिधों का सम्पादन करते हैं। जब सिन्दूरदान का समय आता है तब वर के अभिभावक कन्यागत को दूसरा पैकेट सौंपते हैं। यह पैकेट लाल रंग से **कोबर** चित्रित कागज में लिपटा रहता है। इसके बाद आता है 'घोघट' (वर के ज्येष्ठ भाई द्वारा दुल्हन के शरीर को साड़ी फेंक कर ढँकने की विधि) का बिध। इस अवसर के लिए सिन्दूर का पैकेट जिस कागज में लिपटा रहता है उस पर लाल रंग से **दशावतार** (विष्णु के दस अवतार) चित्रित रहता है। विवाह सम्पन्न होने के बाद, सुबह में जब बारात की विदाई करने कन्यागत आते हैं तब अपने साथ दुल्हन को (वर–पक्ष द्वारा) उपहार में दिए गए आभूषण भी लाते हैं और वर के अभिभावक से कहते हैं कि उनकी दुल्हन के आभूषण उनके पास शायद सुरक्षित नहीं रहें, इसलिए अपने साथ ले जाँय। इस औपचारिकता के उत्तर में वर के अभिभावक उन्हें फिर सिन्दूर के एक पैकेट के साथ आभूषणों की थैली वापस कर देते हैं। यह पैकेट हरे रंग से चिंत्रित **बाँस अरिपन** वाले कागज में लिपटा रहता है। विवाह के चौथे दिन वर पुनः दुल्हन के सीमंत में सिन्दूर देता है। इसे चतुर्थी बिध कहा जाता है। इस अवसर के लिए सिन्दूर जिस कागज में लिपटा रहता है उस पर भी कोबर चित्रित रहता है। चतुर्था के बाद दुल्हन को शुभ लग्न में अपने घर ले जाने के लिए वर अपने साथ पीले रंग से चित्रित **कमलदह** अथवा **बर्रे अरिपन** वाले कागज में सिन्दूर का पैकेट, वस्त्र और मधुर लाता है। इस अवसर को द्विरागमन कहा जाता है। द्विरागमन करा कर वर जब दुल्हन को ले कर अपने घर आता है तब दुल्हन के साथ उसका निवास जिस घर में होता है उस घर की पूर्वी दीवाल पर कोबर चित्रित रहता है।

वृद्ध परम्परानुसार, बीसवीं शदी के प्रारम्भिक दशकों तक कर्ण–कायस्थों के समाज में कदाचित बहुविवाह की कुप्रथा प्रचलित थी जब कुलीन परिवार के प्रौढ अथवा वृद्ध पुरुष के साथ भी गृहस्थ–जन अपनी कन्या का विवाह इस विचार के साथ कर देते थे कि उनकी कन्या की सन्तान कुलीनता की पंक्ति में आ जायगी। इस कुप्रथा की यद्यपि कि उस समय भी निंदा होती थी, फिर भी यह प्रचलन में था। ऐसे वर के विवाह में सिन्दूरदान बिध के लिए जो सिन्दूर का पैकट बनता था वह कोबर–चित्रित कागज मे नहीं, बल्कि हरे रंग से चित्रित बर्रे अरिपनवाले कागज में लिपटा रहता था। सन् 1930–'35 आते–आते कुलीनता के आधार पर बहुविवाह की कुप्रथा समाप्त हो गयी। आधुनिक समय में, यदि कोई व्यक्ति किसी कारण से दूसरी बार विवाह करता है, उसके सिन्दूरदान बिध के लिए निर्धारित सिन्दूर का पैकेट भी कोबर चित्र के स्थान पर हरे रंग से

चित्रित बर्रे अरिपनवाल कागज में लिपटा रहता है। सिन्दूर के कागज पर बने चित्र बदलने की प्रथा प्रायः कन्यागत के समाज में वर की सामाजिक स्थिति दर्शाने के लिए किया जाता हो। सन् 1950–'55 तक के समय में दुल्हन का द्विरागमन प्रायः विवाह के तुरंत बाद नहीं किया जाता था बल्कि कुछ माह बाद पहले वर्ष अथवा तीसरे या पाँचवें वर्ष में होता था। उन दिनों वर और कन्या की आयु कम रहा करती थी, इसलिए कन्या का द्विरागमन देर से होता था। उन दिनों सिन्द्रवाले चित्रित कागज –– कोबर, कमलदह, बरे, बाँस अरिपन और दशावतार चित्र दुल्हन की कला–शिक्षा के साधन थे। वह प्रत्येक पुड़िया में रखे सिन्दूर का उपयोग करने के बाद उस कागज को पुस्तक की तरह सहेज कर रखती थी और उन चित्रों का अभ्यास करती थी। इस अभ्यास से वह कुछ दिनों में उन चित्रों के अंकन में निपुण हो जाती थी जिनका प्रचलन उसके पति के कुल में होता था। सांस्कृतिक शिक्षा की इस परम्परागत विधि का यद्यपि कि आज के युग में चलन कम हो गया है, किन्तु इससे अरिपनों के कौलिक प्रयोग में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

दूसरी ओर, विवाह का प्रथम चरण, 'सिद्धान्त' के सम्पन्न होते ही कन्या–पक्ष में विवाह की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। इस क्रम में **''कोबर–घर''** की सज्जा सबसे अधिक समय लेनेवाला कार्य होता है। कोबर–घर वह कक्ष विशेष होता है जहाँ सिन्दूरदान और घोघट बिध के बाद से दुल्हा–दुल्हन निवास करते हैं। इस कक्ष की पूर्वी दीबाल पर विस्तृत कोबर और शेष दीबालों पर कमलदह, बर्रे, बाँस अरिपनों के अतिरिक्त दशावतार, दीबालों के कोण पर नयना योगिनि, नवरस–कामदेव, नवधा योगिनी (नयना योगिनि का विशिष्ट तान्त्रिक रूप), बेल–पत्र तोड़ते शिव–पार्वती, लटपटिया सुग्गा और अनेक प्रकार की वानस्पतिक सज्जा होती है। कोबर–घर के प्रवेशद्वार पर 'लाबा भूजने का दृश्य' अंकित रहता है। कोबरघर वस्तुतः मिथिला–चित्रकला का परम्परागत कला–संग्रहालय होता है। सन् 1934 से पूर्व कोबर–घर का यह संग्रहालय और भी समृद्ध हुआ करता था। उन दिनों कोबरघर का आकार आज की अपेक्षा अधिक बड़ा होता था जिसके एक भाग को 'कोठियों' (मिट्टी से बने बड़े आकार के बखार जिनमें अन्न या कीमती वस्तु रखा जाता था) से घेर कर ''खोन्ही'' (कोण में बनी कोठरी) का रूप दिया जाता था। खोन्ही के एक तरफ तो कोठियों की पंक्ति और उस भाग में प्रवेश का द्वार रहता था, शेष भाग, मुख्य भवन की तीन दीबारों पर तान्त्रिक यन्त्र, राग–माला, कामसूत्र से सम्बंधित चित्र और तन्त्राधारित मिथिलाक्षर–यन्त्र अंकित रहते थे। दैव–दुर्योग से, मकर संक्रान्ति, 14 जनवरी 1934 का दिन उत्तर बिहार के लिए प्रलयंकारी था जब अति भयंकर भूकम्प ने सभी भवनों को धूल–धूसरित कर दिया, और इसके साथ ही परम्परागत ज्ञान के अपरिमित भाण्डार का बहुत कुछ विस्मृत हो गया। आज अरिपनों का जो कुछ शेष है, वह कर्ण–कायस्थों की कौलिक परम्परा के कारण ही संरक्षित है।

मिथिला के अरिपन ऊर्वरता के अनुष्ठान हैं, स्वयं स्त्रो द्वारा निसर्ग की आभ्यान्तरिक सुषमा के संग स्त्रियों के साम्य का दिग्दर्शन है। दूसरी ओर, अरिपन देवत्व को पारिवारिक श्रृंखला में बांधने का सम्मोहन–यन्त्र है। इसका एक पक्ष यौवनारम्भ से लेकर अति सूक्ष्म काम–भावना और काम–क्रिया को धार्मिक कृत्य के वैवाहिक कर्मकाण्ड से जोड़ता है तो दूसरा पक्ष विष्णु, लक्ष्मी, पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रादि देवताओं को व्रत–उत्सव के शुभ अवसरों पर कौटुम्बिक आमन्त्रण देता है। अरिपन, अर्थात लिखने की एक आद्य कला, ग्रामीण कला का चरम निदर्शन है जिसका दूसरा छोर वर्णनात्मक चित्र होता है।

अरिपन की लिखिया मुख्यतः गोबर–माटी से लिपी पवित्र भूमि पर की जाती है, किन्तु दिबाल और कागज पर भी इसका आलेखन विधिगत है। भूमि पर आलेखन के लिए सबसे पहले अरवा चावल को लगभग छः–सात घंटे तक पानी में फुलाया जाता है। जब पानी में रखा चावल अच्छी तरह से फूल कर मुलायम हो जाता है तब उसे पत्थर के शिल–बट्टे पर महीन पीस लिया जाता है। चावल की उस लोई को पिठार कहा जाता है। अब पिठार में अंदाजे से पानी मिला कर श्वेत रंग तैयार कर लिया जाता है। गोबर–माटी से लिपी भूमि जब अच्छी तरह से सूख जाती है, तब शिल्पी कौशल के साथ चार उंगलियों के कोश में श्वेत रंग उठा कर, उँगली की नोक से भूमि पर आलेखन प्रारम्भ करती हैं। यह आलेखन मिथिला की महिलाओं का विशिष्ट कौशल है। इस लिखिया में अभ्यास से दक्षता आती है।

बहुत सम्भव है कि मिथिला में बहुत पहले से पौराणिक परिपाटी की 'भूमिशोभा' के आलेखन का प्रचलन रहा हो, किन्तु आधुनिक समय में जिस तरह के अरिपन प्रचलन में हैं उसका सुव्यवस्थित रूप

कर्णाटवंशी शासन–काल में निर्धारित हुआ। वर्तमान मिथिला में वैवाहिक अरिपन मुख्यतः कर्ण–कायस्थ समुदाय में अनिवार्य बिध मान कर लिखे जाते हैं जबकि वैवाहिक कोबर और व्रत–अरिपनों का आलेखन ब्राह्मण और कायस्थ दोनों वर्गों में होता है। आज कल अन्य जातियों में भी व्रत अरिपनों और 'कोबर' के आलेखन का प्रयोग बढ़ा है।

कोबर

''**कोबर**'' मिथिला चित्र और मैथिल सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। 'कोबर'(कोबरघर) उस कक्ष–विशेष को कहा जाता है जहाँ विवाह (सिन्दूरदान) के बाद वर–बधू निवास करते हैं। दूसरी ओर, '**कोबर**' उस महत्वपूर्ण चित्र को भी कहा जाता है जो कर्ण–कायस्था के विवाह में मन्दिर जैसा पवित्र और वैवाहिक कर्मकाण्ड का अत्यावश्यक भाग होता है। कोबर को मिथिला चित्र–परंपरा में 'तन्त्रराज' कहा गया है।

प्रसिद्ध है कि संसार में लोगों के दुःख से दुखो पार्वती ने शिव से एक ऐसे यन्त्र के आविष्कार का अनुरोध किया जिसके माध्यम से लोग दुःखों से त्राण पा सक और अपने मनोरथों की पूर्ति कर सकें। पार्वती की इच्छा जान कर तब शिव ने चौंसठ तन्त्रों की रचना की और पार्वती को उसका स्रवण कराया। चौंसठ तन्त्रों की व्याख्या सुन कर पार्वती ने पुनः शिव से कहा, 'हे शिव, ये सभी तन्त्र अद्‌भुत हैं, किन्तु इतने सारे तन्त्रों की साधना करने में ही, मनुष्य का जीवन बीत जायगा, फिर वह अपने मनोरथों का उपभोग कब करेगा? अच्छा हो कि आप एक ऐसा तन्त्र बनाएँ जिसकी साधना से मनुष्य अपनी समस्त ऐहिक इच्छाओं की पूर्ति कर सके।' पार्वती की इच्छा से शिव ने तब पैंसठवें तन्त्र की रचना की। चौंसठ तन्त्र परस्पर अन्योन्याश्रित हैं जबकि पैंसठवाँ तन्त्र अन्यनिरपेक्ष है। पार्वती को सन्तुष्टि के बाद शिव ने वह तन्त्र अपने मित्र कुबेर को प्रदान किया, जिसक आधार पर कुबेर ने 'कोबर तन्त्र' की रचना की।

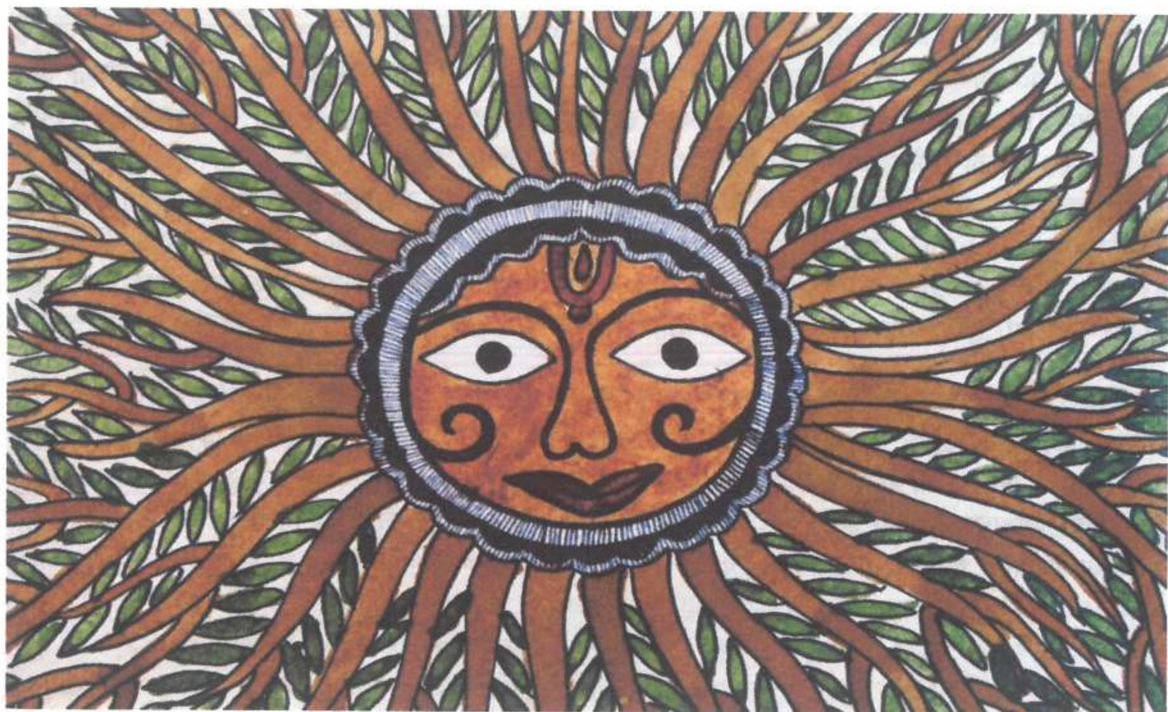
''**कोबर**'' का शाब्दिक अर्थ है 'कुबेर द्वारा बनबाया गया श्रेष्ठ प्रासाद या भवन' (क=जल, वर=श्रेष्ठ) ; जल में निर्मित श्रेष्ठ भवन। प्रसिद्ध है कि विष्णु से पहले लक्ष्मी कुबेर की पत्नी थी। लक्ष्मी समुद्र–मन्थन से प्रकट हुई थी इसीलिए उसे 'क्षीरसागर–कन्यका' कहते हैं। समुद्र–मन्थन की विराट परियोजना में लगे अकूत धन का प्रबंध करने के उपलक्ष्य में देवताओं ने लक्ष्मी पर कुबेर का अधिकार निश्चित किया। रावण का वैमात्रेय भाई कुबेर दानव–कुल का एक अति महत्वपूर्ण व्यक्तित्व था। वह अकूत धन–सम्पत्ति का स्वामी और शिव का मित्र था। प्रयोजन होने पर देवगण भी कुबेर से ऋण लेते थे। प्रायः इसी कारण से कुबेर को देवताओं का कोषाध्यक्ष कहा जाता है। किन्तु वह कुरूप था। उसका पेट विशाल कदीमा (कोहरा) जैसा था और ऊपर के दो दात बाहर निकले हुए थे। 'अमरकोश' में कुबेर के सत्रह नामों का उल्लेख किया गया है जिससे उसके स्वरूप और प्रताप का अनुमान होता है –– ''कुबेरस्त्रयम्बकसखो यक्षराज गुह्यकेश्वरः, मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनादिपः। किंनरेशो वैश्रवणः पौलस्त्यो नरवाहनः, यक्षैकपिंगैलविल श्रीद पुण्यजनेश्वराः।।'' अर्थात् कुबेर (कुत्सित शरीरवाला), त्रयम्बकशखा (शिव का मित्र), यक्षराज, गुह्यकेश्वर (गुह्यविद्याओं का अधिपति), मनुष्यधर्मा, धनदा, राजराजा, धनाधिप, किंनरेश (किन्नरों का राजा), वैश्रवण (वैश्रवण का पुत्र), पौलस्त्य (पुलस्त्य ऋषि का वंशज), नरवाहन, यक्ष (यक्षों का देवता), एकपिंग, एलविल, श्रीद और पुण्यजनेश्वर।

ऐश्वर्य और विलास के प्रतिनिधि देवता कुबेर को धन के अतिरिक्त बल का प्रतीक भी माना गया है। कुबेर को हिमालय का निवासी कहा गया है जिसने अलकापुरी को अपनी राजधानी बनाया। कालिदास के 'मेघदूतम्' में अलकापुरी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके उद्यान का नाम चैत्ररथ और विमान का नाम पुष्पक था। वह एक दिक्पाल भी है। कुबेर को उत्तर दिशा का दिक्पाल कहा गया है, और इसीलिए उत्तर दिशा को 'कौबेरी' कहा जाता है। किसी समय उत्तर भारत में कुबेर–पूजा का विशेष प्रचलन था। मथुरा, पद्मावती, विदिशा, पाटलिपुत्र आदि अनेक नगर कुबेर–पूजा के केन्द्र थे। वाराणसी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर–परिसर स्थित अन्नपूर्णा मन्दिर में कुबेर की प्रतिमा भी पूजित है। कहीं–कहीं कुबेर को लक्ष्मी के अतिरिक्त दूसरी पत्नी, हारीत के संग, तो कहीं मात्र कमल–धारिणी लक्ष्मी के संग और कहीं एक हाथ में मदिरा–पात्र तो दूसरे हाथ में

धन का बटुआ लिए दिखलाया गया है। अष्टनिधि का स्वामी होने के कारण अनेक कलाकृतियों में कुबेर को शंख, पद्म आदि के साथ भी दिखलाया गया है। बौद्धधर्म के बज्रयान में इसकी पत्नी का नाम मारीचि और महायान में वसुधारा बताया गया है। जैनधर्म में कुबेर को मल्लिनाथ तीर्थंकर का यक्ष कहा गया है। अनेकों गुण, प्रभुत्व और अथाह सम्पदा रहते हुए भी वह कुरूप था। उसका विवाह संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी लक्ष्मी जी से हुआ। लक्ष्मी उस बेमेल विवाह से बहुत दुःखी थी। वह रूठ गयी। लक्ष्मी ने खाना, पीना, हँसना, बोलना सब कुछ का परित्याग कर दिया। लक्ष्मी को मनाने के लिए कुबेर ने संसार के सबसे विलक्षण भवन बनवाने का संकल्प किया —— कोबर! चौदह लोकों में विस्तीर्ण प्रासाद का क्षेत्र! समस्त प्राकृतिक अवयव, समस्त नक्षत्र–मण्डल, समस्त जीवादि सहित भवन के मध्य में मणि–पर्वत, उसके शीर्ष पर सहस्रदल कमल, उस पर सुखासन, सुखासन पर मणिपद्म और उस पर विराजित शक्ति सहित शिव! इतना कुछ, और भी बहुत कुछ; अन्ततः लक्ष्मी मान गयी।

कोबर चित्र एकोकृत रूप मे विशालतम मिथिला चित्र है। वास्तव में कमलदह, बर्रे और बाँस भी इसी के अंग हैं जो एकीकृत रूप में महामण्डल की रचना करते हैं। अध्ययन में सुगमता के लिए इसे छः भागों में बाँटा जा सकता है —— **द्यु–मण्डल , योग–मण्डल** या **योगिनी चक्र , जल–मण्डल , वन–मण्डल , जैव–मण्डल** और **यन्त्र–मण्डल।**

द्यु–मण्डल : द्यु–मण्डल कोबर का प्रकाश–लोक है, स्वर्ग, अन्तरीक्ष में भासमान सूर्य, चन्द्रमा, नव (वह तारा जो भविष्य में कभी ग्रह का पद धारण करेगा), नवग्रह, ककबा (अज्ञेय परमेश्वर / विष्णु का धाम) इसमें अवस्थित हैं। इस विभाग की संरक्षिका योगिनी 'तारा' है। तारा दशमहाविद्या की दूसरी महाशक्ति है। प्रसिद्ध है कि बारह बजे रात से सूर्योदय तक के काल में, भेद भिन्नता से, चौरासी काली की सत्ता रहती है और शेष समय में तारा की सत्ता रहती है। हिरण्यगर्भ–विद्या के अनुसार, निगम शास्त्र सम्पूर्ण विश्व की रचना का आधार सूर्य को मानता है। सौरमण्डल आग्नेय होने से हिरण्मय कहलाता है, क्योंकि अग्नि हिरण्यरेता है। उस हिरण्य–मण्डल (आग्नेय सोलर सिस्टम) के केन्द्र में वह सौरब्रह्म–तत्व प्रतिष्ठित है, इसीलिए सौर–ब्रह्म को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है।



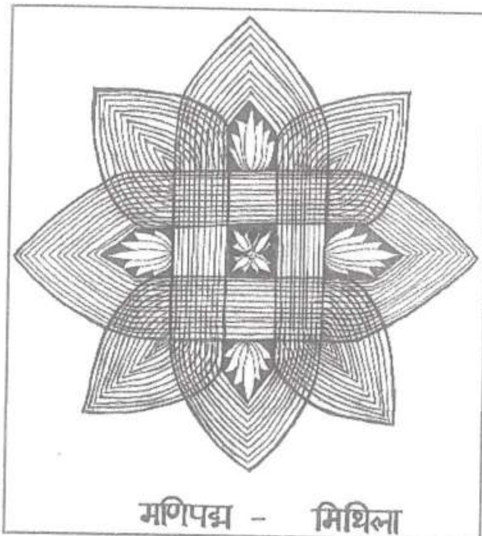
जिस प्रकार विश्वातीत कालपुरुष की शक्ति महाकाली है, उसी प्रकार विश्व–अधिष्ठाता इस हिरण्यगर्भ–पुरुष की शक्ति तारा को कहा गया है। प्रलय के अनन्तर, जब अंधकार मात्र सर्वव्याप्त रहता है, उस समय सूर्य सामान्य तारा की तरह टिमटिमाता रहता है। इसीलिए आगम शास्त्र में सूर्य को 'नक्षत्र' कहा गया है। तन्त्रशास्त्र में इस पुरुष का अक्षोभ्य नाम प्रसिद्ध है। वैदिक सिद्धान्तानुसार, सूर्य सदैव स्थिर रहता है और वृहती–छन्द नाम से विख्यात विश्वद्वृत्त के ठीक मध्य में क्षोभरहित होकर तपता रहता है। श्रुति में सूर्य के जन्म से सम्बंधित एक कथा प्रसिद्ध है।

सूर्य को रुद्र भी कहा गया है। सूर्य की प्रखर किरणों को मैथिली में 'रौद' (रौद्र?) कहा गया है। इस रुद्र के दो शरीर बतलाए गए हैं। 'अपोमय' (अगाध जलमय) महासमुद्र में लहरों के घर्षण से आग्नेय परमाणु उत्पन्न हुआ। फिर सभी परमाणु एक–दूसरे से जुड़ते–जुड़ते संघटित होने लगे और परमाण का संघ बन गया। तब आया 'श्वेत–वाराह' नाम से प्रसिद्ध प्राजापत्य–वायु। उसने परमाणु के उस संघ पर संघात किया जिससे वह अग्नि–परमाणु संघ पिण्डरूप में परिणत हुआ और एकाएक प्रज्वलित हो उठा। इस ज्वाला–तत्व का नाम सूर्य पड़ा। जन्म लेते ही यह रुद्राग्नि 'अन्न–अन्न' चिल्लाया, क्योंकि अन्नदा अग्नि अन्नाहुति के बिना एक क्षण भी शान्त नहीं रह सकता है। इस अन्नाहुति से पूर्व सूर्य बहुत उग्र था। लगता था जैसे वह अपने ताप से सम्पूर्ण संसार को जला कर राख कर देगा। उग्र सूर्य की उस शक्ति को 'उग्रतारा' कहा गया। जब तक अन्नाहुति मिलता रहता है, तब तक तारा शान्त रहता है। अन्नाभाव होते ही वही तारा उग्र होकर संसार का नाश करता है। जिस प्रकार महाकाली महाप्रलय की अधिष्ठात्रो है, उसी प्रकार उग्रतारा सूर्य–प्रलय की अधिष्ठात्रो है। प्रलय करना दोनों का धर्म है। उग्रतारा की चार बाँहें हैं और चारों में साँप लिपटा रहता है। ये सर्प प्रलयकाल में अपने विष के गैस से विश्व का संहार करते हैं। प्रलयकाल म पृथ्वी, चन्द्रमा, मनुष्य, पशु–पक्षो, गाछ–वृक्ष आदि सभी का रस उग्र सौर–ताप से सूख जाता है। सबों का रस उग्रतारा पी जाती है। रस किसी प्राणी के शरीर का 'श्रीभाग' है। यह प्रधान रूप से शिर (कपाल) में रहता है। श्री या रस–भाग की अवस्थिति के कारण माथे को 'शिर' या 'श्री' कहा गया है। यजुर्वेद के अनुसार, 'नीलग्रीवो विलोहितः'; सूर्य नीलग्रीव है और सूर्यरूप मस्तक से चारों ओर फैली रश्मि इसकी जटा हैं। तारा को दुःख के सागर से पार करानेवाली भगवती, शक्ति कहा गया है।

श्रीरमण महर्षि एक प्रख्यात ऋषि हो चुके हैं।। उन्होंने 'रमण–गीता' की रचना की जिसमें उल्लेख है कि वशिष्ठ गणपति मुनि की स्त्रो ने तारा–विद्या का ज्ञान मिथिला की एक महिला–गुरु से प्राप्त किया ओर सर्वप्रथम दक्षिणी विन्ध्य क्षेत्र में इसका प्रचार किया। संस्कृत शब्द 'तारा' तृ धातु से बना है जिसका अर्थ 'पार कराना' होता है। इसका प्रयोग 'तरण' सूचक है, तरति, और जो दूसरों को पार कराता है, तारयति। संस्कृत का तारा या तारका शब्द आकाश स्थित एक ऐसे तारा का भी द्योतक है जो अन्तरिक्ष में अपने प्रकाश से यानों को दिशा–निर्देश करता है। 'तारा' मानव–शरीर में नेत्र की पुतली को भी कहते हैं जो मनुष्य को प्रकाश दिखलाता है, और इसो कारण से आँख को नयन या नेत्र कहा जाता है, क्योंकि वह जीवन–पथ पर नेतृत्व करता है। उसी प्रकार नाव को 'तरी' कहा जाता है, क्योंकि वह किसीको पार कराती है।

देवी तारा की उपासना ज्ञान की प्राप्ति के लिए, प्रभावशाली वाणी–शक्ति के लिए और असाधारण पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिए भी की जाती थी। इस प्रकार यहाँ एक तरह का प्रतीयमान विरोधाभास है। एक तरफ तारा का सम्बंध लोगों को घोर विपत्ति से बचाना, लोगों को रोग–दुःख के सागर से पार कराना है तो दूसरी ओर वह प्रभावशाली वाणी और ज्ञान की प्राप्ति से सम्बंधित है। यही कारण है कि तारा को 'नीलसरस्वती' के रूप में जाना जाता है।

ज्ञानातीत परमसत्ता, ईश्वर अपनी संकल्प–शक्ति से जब प्रकट होने की इच्छा करता है, एक तरह की गति, हलचल या स्पन्दन का आविर्भाव होता है। यही आद्य स्पन्दन कम्पन की एक श्रृंखला आरम्भ करती है जो


मणिपद्म - मिथिला

ध्वनि का रूप लेता है, नाद, जो पदार्थ–सृष्टि का अग्रदूत बनता है; अर्थ सृष्टेः पूर्वम शब्द सृष्टिः। इसी नाद को वेद नित्यवाक्, शाश्वत शब्द, अक्षर कहते हैं जिसका प्रतिनिधि ध्वनि–प्रतीक 'ओउम्' है, वह परम देवी तारा है। वैदिक ऋषि जिसे अक्षर कहते हैं, उपनिषद में जिसे प्रणव कहा गया है, और पौराणिक कवियों ने जिसे अमल–धवल गौरी कहा, उसीको तान्त्रिकों ने शक्ति कहा। इस प्रकार महाविद्या तारा आद्यनाद है, पश्यन्ति वाक्, दृश्यमान शब्द, जो भावी सृष्टि का अनुभवगम्य रूप है, सभी तरह की ध्वनियों का ध्वनि–सत्त्व है, अत्युच्च प्रशंसित प्रणव है, अनुज्ञाक्षर है, सृष्टिदेवता के प्रति स्वीकारात्मक संकेत है, सभी तरह की वाणी का स्रोत है और सभी तरह के ज्ञान का निधान है।

तन्त्र में तारा के व्यक्तित्व को तीन प्रकार से देखा गया है –– उग्रतारा, नीलसरस्वती और एकजटा। उग्रतारा, जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत होता है, शव पर सवार काली की तरह प्रचण्ड है। उसका तीव्र कम्पन आद्य निश्चलता को अस्थिर कर देता है, उसकी ध्वनि–शक्ति अटल नीरवता को छिन्न–भिन्न कर देती है। तन्त्र का कथन है कि वह त्रिलोक की अज्ञानता को मानव–मुण्ड के अपने पात्र में जमा कर लेती है और एक ही झटके में उसे नष्ट कर देती है। 'नीलसरस्वती' शब्द की वह शक्ति है जो अंधकारमय अन्तरिक्ष का भेदन करती है। तारा का 'एकजटा' रूप केश की एक–जटावाली देवी है जो बिखरी ध्वनियों को समेट कर सृजन की क्रिया के लिए माध्यम बनती है, उसकी शक्ति सघटित होकर सोद्देश्य सृष्टि के लिए कायप्रवृत्त होती है, जो सृष्टि–तन्त्र 'कोबर' की अधीश्वरी देवी है।

बौद्ध धर्म में कुछ स्त्री–बोधिसत्वों का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है जिनमें सर्वाधिक ज्ञात 'तारा' है, जिसकी उपासना साधना के मार्ग में आनेवाले संकटों से त्राण पाने के लिए की जाती है। बौद्धधर्म में तारा के अनेक रूप पाए जाते हैं (प्रायःएक्कीस रूपों में) जिनमें से दो लोकप्रिय रूप श्वेततारा और हरित तारा है। यह बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी ह। कहा जाता है कि इसका जन्म अवलोकितेश्वर के दयार्द्र नोर से हुआ। तारा की महान लोकप्रियता, जो पश्चिम तिब्बत में विकसित हुई, और उसी समय तान्त्रिक उपासना का विकास भी हुआ जिसका प्रभाव बाद के बौद्ध धर्म पर प्रचुर रूप से पड़ा। तारा से सम्बंधित शिलालेख और मूलपाठगत सन्दर्भ उसके उत्तरदायित्वों के स्पष्टतम क्षेत्रों का निर्देश करते हैं जिसमें भूत और राक्षस द्वारा उत्पन्न संकट पर विजय पाना, रोग से आरोग्य और सभी प्रकार के संकटों पर विजय प्राप्त करना सम्मिलित है। वह विवेक की अभिव्यक्ति है, प्रज्ञा या अन्तर्दृष्टि का मूर्तरूप है।

याग–मण्डल या **योगिनी–चक्र** : योग–मण्डल अर्थात शिव–शक्तिलोक ; कोबर चित्र का मध्यतन; अर्धनारीश्वर शिव के पुरुष भाग का लिंग, इतरलिंग, जिसे आम बोलचाल में लोग बाँस कहते हैं। इस तथाकथित बाँस की फुनगी पुष्पित दिखलायी जाती है। असल में पुष्पित बाँस नहीं बल्कि सहस्रदल कमल है जिससे निरन्तर अमृत–वर्षा होती रहती है, जिस रस से यह सम्पूर्ण जगत पोषित है, उस दिव्य सहस्रदल कमल का आनन्दोस्फुलिंग है तथाकथित बाँस का यह फूल; मणिपद्म का प्रफुल्ल प्रसाद है बाँस का यह फूल। कोबर के शीर्ष पर अवस्थित शिव–शक्ति के लोक को मिथिला चित्र के महिला–शिल्पी आम भाषा में 'योग–योगिनी' कहती हैं। इस शिव–शक्ति का रूप युगनद्ध है, एक–दूसरे से जुड़ा हुआ। इस प्रकार की रूप–कल्पना का सिन्धु घाटी–सभ्यता में आमूर्तन हुआ है; दो शिर, एक देह। इस युगनद्ध रूप की कल्पना बौद्ध–तन्त्र में भी की गयी है। मिथिला चित्र–तन्त्र में मणिपदम स्थित शिव पंचमुख है। शिव के पाँचों मुख का नाम सद्योजात, बामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान है। इन पाँच मुखों के पाँच–पाँच स्रोत कहे गए हैं – लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मन्त्र। मणिपदम स्थित शिव के संग जो शक्ति है वह नीलवर्ण की है। इसका उल्लेख 'रुद्रयामल'

में हुआ है। रुद्रयामल के अनुसार, प्रलय के अनन्तर, सृष्टि से पहले एक वृहदाकार अण्ड का आविर्भाव हुआ। उस अण्ड से चतुर्भुज विष्णु प्रकट हुआ, जिसकी नाभि से ब्रह्मा और ललाट से रुद्र का आविर्भाव हुआ। तब ब्रह्मा ने विष्णु से पूछा, किसकी आराधना से वेदों का ज्ञान होता है? विष्णु ने कहा, रुद्र से पूछो। रुद्र ने कहा, मेरु के पश्चिम कुल में, चोलदह में वेदमाता नील सरस्वती का आविर्भाव हआ। इसका उद्गम रुद्र के उर्ध्व वक्त्र से हुआ है। यह तेजरूप से निकल कर चोलदह में गिर पड़ी और नीलरंग धारण कर लिया। यही नीलवर्ण योगिनी मणिपद्म में योगरूप शिव के साथ युगनद्ध रहती है। नील योगिनी के अतिरिक्त पंचमुख शिव की और भी पाँच योगिनियाँ हैं जिनके नाम कामेश्वरी भैरवी, षट्कुटा भैरवी, नित्या भैरवी, रुद्र भैरवी आर भद्र भैरवी हैं। मिथिला चित्र (रंग–प्रक्रिया) में नील पुष्प 'अपराजिता' से नील रंग बनाया जाता है और अपराजिता को मणिपद्म स्थित 'नीलसरस्वती' का प्रतिमान कहा गया है।



मान्यता है कि कोबर के सात पुरैन जैसी रचना (जिसे लोक शब्दावली में पात, पुरैन या कमल के पत्ते कहा जाता है) और सात लघुपत्र (छोटे पत्र जिसे जहाँ कहीं स्थान मिल पाये बनाया जाता है), कुल चौदह पत्ते चौदह भुवन या लोकों के द्योतक हैं; सात तल–लोक और सात पाताल लोक। बड़े या मुख्य सात पत्ते भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक या ब्रह्मलोक नामी लोक हैं। इनके सात पाताल लोकों के नाम अतल, नितल, वितल, गभस्तिमान, तल, सुतल और पाताल हैं। इन चौदहों लोकों की अधीश्वरी (तल और पाताल समेत), एक मत से, सात भैरवी कही गयी हैं – सिद्ध भैरवी, त्रिपुरा भैरवी, चैतन्य भैरवी, भुवनेश्वरी भैरवी, कमलेश्वरी भैरवी, सम्पदाप्रद भैरवी और कौलश्वरी भैरवी।

समस्त मिथिला तन्त्र में 'कोबर–तन्त्र' को अति गुह्य कहा गया है। इस तन्त्र को जानने–समझने के लिए कल्पना कीजिए कि अनन्त समुद्र के भीतर और बाहर, अन्तरिक्ष तक विस्तीर्ण कोई उत्तुंग प्रासाद–समूह है, वृत्ताकार सात अति विशाल प्रासाद, सात–सात खण्डों का, जिसके कन्द्र में विशाल मणि–पर्वत है (कोबर का मध्यतन), मणि–पर्वत की फुनगी पर मणिपद्म है, सहस्रदल कमलवाला मानसरोवर या अमृतदह। सात मुख्य पत्तों और सात लघुपत्तों के चौदह प्रासाद इतने विशाल हैं कि इन्हें लोक या संसार कहा गया है। इस वास्तुक्षेत्र के प्रत्येक विभागों को अलग–अलग संरक्षिका यागिनी हैं। इसके अलावा वास्तुक्षेत्र से बाहर के भाग को एक विभाग मान कर उसकी संरक्षिका योगिनी भी है। ये सभी योगिनियाँ मिल कर एक योगिनी–चक्र बनाती हैं। एक मत से, इन चौदहों लोकों की संरक्षिका सात भैरवी हैं जिनके नाम ऊपर बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त, सिद्ध भैरवी को उत्तरान्वय पीठ की देवता, नित्या भैरवी को पश्चिमान्वय पीठ की देवता, त्रिपुरा भैरवी को उर्ध्वान्वय पीठ की देवता, भद्र भैरवी को महाविष्णु की उपासिका और दक्षिण सिंहासनारूढ़ा कहा गया है।

उपर्युक्त मतानुसार, सात कमल–पत्तों के लोक या संसार के सात–सात खण्ड हैं। इस प्रकार सात खण्डोंवाले सात प्रासाद के कुल उनचास विभाग हुए जिसके संरक्षण का दायित्व उनचास योगिनियों पर है।

इसके अतिरिक्त एक संरक्षिका मणिपद्म (कोबर के मध्य में स्थित बाँस के शीर्ष पर) को; पंचमुख शिव की पाँच योगिनी; स्वयं पंचमुख शिव के संग युगनद्ध एक योगिनी और एक संरक्षिका योगिनी कोबर के मुख्य वास्तु के वाह्य भाग की। इनके अतिरिक्त सातों खण्डों की सात विशेष संरक्षिका। इस प्रकार चौंसठ योगिनियों से बना है योगिनी–चक्र। इस चक्र में, सात प्रासादों के कुल उनचास खण्डों की संरक्षिका (इस लेखक के पितामह, तन्त्रगुरु पण्डित शक्ति नन्दन दास की पाण्डुलिपि से प्राप्त) योगिनियों के नाम पिशाचिनी, डाकिनी, कालरात्रि, निशाचरी, कंकाली, रौद्रवैताली, हुंकारी, उर्ध्वकेशी, विरूपाक्षी, शुष्कांगी, घोरा, नरभोजनी, कटकरी, धूम्राक्षी, कलहप्रिया, रक्ताक्षी, भयंकरी, भीष्णा, त्रिपुरान्तका, चण्डी, वीर, कौमारिका, वाराही, मुण्डधारिणी, हस्तिनी, कृधा, दुर्मुखी, प्रेतवाहिनी, खट्वांगिनी, ग्रहा, कंकाली, कटकी, कंटकी, क्रियादूती, करालिनी, शंकिनी, पद्मिनी, क्षीरह्यसंधा, प्रहारिनी, कामुखी, ज्वालामुखी, लोला, कादृष्टि, अधोमुखी, दुर्जटी, मालिनी, अघोरा, कपाली और विषभोजिनी हैं। इन योगिनियों का उत्तरदायित्व उनचास खण्डों का संरक्षण है जबकि सात पत्तों या लोकों की प्रधान संरक्षिका सात योगिनियाँ हैं जिनके नाम कामाक्षी, उग्रचामुण्डा, मालती, मन्त्रयोगिनी, अष्टिनी, चक्रिनी और शुभ्रा योगिनी हैं; मणिपद्म स्थित शिव के साथ एक योगिनी, नील सरस्वती; पंचमुख शिव के साथ पाँच योगिनी –– दिव्ययोगा, महायोगा, सिद्धयोगा, महेश्वरी और भुवनेश्वरी; सम्पूर्ण मणिपद्म की एक संरक्षिका, वीरभद्रा; कोबर के मुख्य भाग से बाहर के भाग की एक संरक्षिका, विश्वरूपा; इस प्रकार कुल चौंसठ योगिनियाँ मिल कर कोबर का **योगिनी–चक्र** बनाती हैं।

इन सभी योगिनियो में एक योगिनी मिथिला चित्रकला और मैथिल सामाजिक जीवन में सर्वाधिक सुपरिचित है, कामाक्षी, प्रेममय नेत्रवाली योगिनी, जिसका प्रचलित लौकिक नाम **नयना योगिनी** है। इस योगिनी का इहलौकिक वास–स्थान कामरूप–कामाख्या कहा गया है, किन्तु वह सदैव भ्रमणशील रहती है। कोबरघर के समस्त अवयव, चित्रादि समेत वर–बधू की सुरक्षा इसी के जिम्मे रहती है। नयना जोगिनि की उपस्थिति कोबरघर के चारों कोण में होती हैं; पट्टेदार घूँघट डाले, एक आँख से ताकती, एक हाथ में पंखा और एक हाथ माथे पर रखे चङेरा (बाँस की डलिया) को पकड़े, खड़ी और सजग प्रतिमा। नयना योगिनी कोबरघर की केलि–कौतुक की देवी भी है और नयन–यन्त्र की सिद्धि भी।



मैथिल ब्राह्मण और कर्ण–कायस्थ समुदाय में विवाह के चौथे दिन वर द्वारा पुनः सिन्दूरदान किया जाता है और वैवाहिक विधियों को फिर से दुहराया जाता है। माना जाता है कि चतुर्थी विधि के बाद ही विवाह की विधि पूर्ण होती हैं। यही कारण है कि ब्राह्मण और कर्ण–कायस्थ समुदायों में चतुर्थी विधि से पूर्व वर–बधू का शारीरिक सम्पर्क वर्जित था। पिछले कुछ वर्षो से यद्यपि कि कायस्थों में यह वर्जना प्रायः समाप्त हो गयी है, किन्तु ब्राह्मणों के समुदाय में यह वर्जना आज भी कायम है। कायस्थों की प्राचीन परंपरा में, कोबरघर के उत्तरी दिबाल पर 'नवधा–योगिनि' का चित्र बनाने का प्रचलन था। इस चित्र में कामाक्षी भगवती को नयना योगिनी या नवधा योगिनी के अलंकृत रूप में, नौ हाथियों के रूप में गुम्फित काम–योगिनियों की पीठ पर सवार दिखलाया जाता है। ये नौ योगिनियाँ अनंगा, अनंगकुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना, मदनातुरा, अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगकुशा और अनंगमालिनी हैं। नवधा योगिनि के माथे पर चङेरा, दाहिने

हाथ में पंखा और बाँये हाथ में सुग्गा रहता है। नवधा योगिनी वस्तुतः नयना योगिनी का ही स्थानापन्न नाम और कौतुकरूप है। लोकविद्या के आचार्यों की मान्यता है कि नौ हथिनियों के रूप में योगिनियो का यह रूप साहित्य और कामशास्त्र के नौ रसों का समन्वय है।

कहा जाता है कि 'नयना योगिनी' का प्रादुर्भाव मेसोपोटामिया की सभ्यता से हुआ है। बलूचिस्तान (पाकिस्तान) का 'हिंगलाज माता' का मन्दिर, जहाँ देवी ने कहीं दूर से आकर अपना विश्राम–स्थल बनाया, भारत के चारों मुख्य दिशाओं में स्थापित चार मूल शक्ति–पीठों में एक था। विशिष्ट पुराकालिक महत्व का यह स्थल सम्भवतः सिन्धु घाटी–सभ्यता का सहवर्ती था। सम्भव है कि हिंगलाज की तरह ही तात्विक स्त्री–शक्ति कामरूप आसाम में प्रकट हुई जो प्रारंभिक शक्तिपीठों में एक है। आसाम के इस शक्तिपोठ में देवी के पवित्र जननांग, महायोनि देवी के रूप में पूजित है। कामरूप का मन्दिर डायन, तान्त्रिक और सभी तरह के कामजन्य धार्मिक कृत्यों के लिए प्रसिद्ध है। कामरूप में देवी कामाख्या 'नोना' या 'नयना योगिनी' के नाम से भी जानी जाती है। यही नोना योगिनी या नयना योगिनी आगे चल कर उत्तर प्रदेश और बिहार (मिथिला) में लोना या नोना चमारिन या योगिनी, जिसकी सुन्दरता अति मोहिनी है और जो अपने मन्त्र या जादू–टोना से पुरुषों का मन वश में करने के बाद उसे पथ–भ्रष्ट करती थी। मिथिला में अनेकों मन्त्र में नोना को मन्त्र–योगिनो के रूप में भणिता की गयी है। ''मैथिली लोकगीत'' में डा अणिमा सिंह ने ऐसे ही कुछ मन्त्र बताया है जिनमें 'नोना' चमारिन को दुहाई दी गयी है ––

''कामरु देस कमच्छा माइ, जहाँ बसै इसमाइल जोगी।

इसमाइल जोगी लगाओल फुलबारी, फूल बिहुँसै, फूल तोड़ै नोना चमाइन।

पढ़ै लंगवासी, मारहु बान डाइन के छाती।

झनक पड़ल गोरख के कान, गोरख ले झोरा बुनलनि बान।

झनक पड़ल तेलिया मसान, तेलिया ले छोड़ल रकत के बान।

छू मंतर आन कमच्छा माइ।''

''आग बुझाने'' क एक मन्त्र में भी नोना की दुहाई द्रष्टव्य है ––

''आइ बान्हौं ताइ बान्हौं, बान्हौं वनक हाथी । हे अगिन देवता हम तोरा बान्हब, रामचन्द्र क साखी । दोहाइ गौरा – पारबती, दोहाइ नोना चमाइन।''

एक अन्य मतानुसार, कोबर के सातों पत्ते सप्तमातृका के लोक हैं, जिनका आधिपत्य उन सातों लोकों और उनके पाताल लोकों तक होता है। सप्तमातृका में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्राणी और चामुण्डा आती हैं। एक और मत के अनुसार, कोबर का केन्द्रीय पत्ता भगवती त्रिपुर सुन्दरी का स्थान है जो सात चक्रों का है। उस केन्द्रीय पत्ते का पहला चक्र चार कमलदल से बना है, दूसरा चक्र आठ कमलदल का, तीसरा चक्र बारह कमलदल का, चौथा चक्र सोलह कमलदल का, पाँचवाँ चक्र चौबीस कमलदल का, छठा चक्र बत्तीस कमलदल का और सातवाँ चक्र चौंसठ कमलदलों का होता है। चार कमलदल वाले सबसे ऊपरी चक्र के चार दलों में मातृका अम्बिका, वाग्भवा, दुर्गा और श्री वास करती है। उससे नीचे अष्टकमलदल चक्र है जिसमें ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी का वास कहा गया है। इस चक्र से नीचे बारह कमलदल के चक्र में सुभ्रमा, विभ्रमा, रौद्रा, कुम्भिका, कौशिका, शुका, सुषुका, खगा, बिम्बा, मृगा, रम्भा और महोत्कटा योगिनी का वास कहा गया है। इस चक्र से नीचे सोलह कमलदल का चक्र है जिसमें कराली, विकराली, उमा, सरस्वती, श्री, दुर्गा, उषा, लक्ष्मी, श्रुति, स्मृति, धृति, श्रद्धा, मेधा, मती, कान्ति और आर्या योगिनियों का वास है। इस चक्र से नीचे चौबीस कमलदल–चक्र में सिद्धिदा, लक्ष्मी, ज्वालामुखी, माया, प्रशमा, वायुवेगा, पवना, उर्ध्वकेशी, कर्ममोती, अम्बिका, अम्बिकेश्वरी, अग्निवक्त्रा, पिंगाक्षी, गोकर्णी, क्रमाणी, चामुण्डा, प्रश्नाश्या, विद्युत्तेजा, महाकेशी, अग्निज्वाला, लोकमाता, कम्पिनी और भग्ननासा योगिनियों का वास कहा गया

है। इस चक्र से नीचे बत्तीस कमलदल चक्र है जिसमें चण्डा, घण्टा, महानामा, सुमुखी, दुर्मुखी, बाला, रेवती, प्रथमा, घोरा, सौम्या, भीमा, महाबला, जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, महोत्कटा, विरुपाक्षी, शुष्का, आकाशमोती, संहारी, जटाधारी, द्रंष्टाली, शुष्करेवती, पिपलिका, पुष्पहारी, ग्रसनी, शस्यहारिका, भद्रकाली, सुभद्रा, भद्रभीमा और सुभद्रिका योगिनियों का वास कहा गया है। इस चक्र से नीचे चौंसठ कमलदल का चक्र है जिसमें अक्षोभ्या, रिक्षकर्णी, राक्षसी, क्षपा, क्षया, चिपिटा, कृष्णा, सुलालसा, हेला, लीला, लोला, सुप्ता, लुब्डा, लम्पटा, लंकेश्वरी, विमला, हुतासनी, विडालाक्षी, हुंकारी, वड़वामुखी, सिंहनादा, रेवती, क्रोधना, भयानना, सर्वज्ञा, पचकी, शान्ता, ऋग्वेदा, शुभानना, सारा, विश्वरूपा, सरस्वती, तालजंगा, वृहत्त्कुक्षी, विद्युत्जिह्वा, भयंकरी, मेघनादा, प्रचण्डा, कलकरनी, रूपहा, पंचा, पंचावती, प्रपंचा, प्रलयांशकी, पिचुवक्त्रा, पिशाची, पिषिटा, शवलोलपा, वामा, वामिनी, वक्रनासा, विकृतानना, वायुवेगा, उग्रा, विचित्रा, विश्वरूपिनी, यमजिह्वा, जयन्ती, दुर्जया, यमन्तिका, प्रलयी, विडाली, अशनी और पूतना योगनियों का वास कहा गया है।

ऊपर वर्णित योगिनियों के जो वास–स्थान के विवरण दिए गए हैं वे मात्र कोबर के केन्द्रीय पात से सम्बंधित विवरण है। इस मतानुसार, कोबर के शेष छः पत्तों में दो–दो तल हैं –– तल और पाताल। दाहिनी और बाँयी ओर के तल और पाताल भाग में वास करनेवाली योगिनियों का विवरण इस प्रकार है –– दाहिनी ओर के ऊपरी पत्ते के तल भाग की स्वामिनी–संरक्षिका कामेश्वरी भैरवी और पाताल भाग की स्वामिनी षट्कुटा भैरवी; दाहिनी ओर के मध्यवर्त्ती पत्ते के तल भाग की स्वामिनी नित्या भैरवी और पाताल भाग की स्वामिनी रुद्र भैरवी; दाहिनी ओर के निम्नवर्त्ती पत्ते के तल भाग की स्वामिनी भद्र भैरवी और पाताल भाग की त्रिपुरा भैरवी; बाम भाग के ऊपरी पत्ते के तल भाग की स्वामिनी चैतन्य भैरवी और पाताल भाग की भुवनेश्वरी भैरवी; बाम भाग के मध्यवर्त्ती पत्ते के तल भाग की स्वामिनी कमलेश्वरी भैरवी और पाताल भाग की सम्पदाप्रद भैरवी जबकि निम्नवर्त्ती पत्ते के तल भाग की स्वामिनी सिद्ध भैरवी आर पाताल भाग की स्वामिनी कौलेश्वरी भैरवी को कहा गया है। भिन्न–भिन्न मतानुसार 'योगिनी–चक्र' का यह विवरण लेखक ने अपने पितामह, तन्त्रगुरु पण्डित शक्ति नन्दन दास की पाण्डुलिपि से प्राप्त किया। पाण्डुलिपि से उद्धृत विवरण के अनुसार, पितामह ने योगिनियों का स्रोत अग्नि पराण, मतोत्तर तन्त्र, कुब्जिका पूजा–पद्धति, श्रीतत्वनिधि, शारदा तिलक, भूतलिपि मातृका पूजा–पद्धति, देवी भागवत, स्कन्द पुराण के काशी खण्ड और गुप्त तान्त्रिक परम्परा से प्राप्त किया था। वह स्वयं एक सिद्ध तान्त्रिक थे और अरिपनों के तान्त्रिक स्रोतों की विशद व्याख्या की थी। इस लेखक ने तरुणावस्था में उनकी सेवा में संलग्न रहने के उपलक्ष्य में ज्ञान की जो रश्मि पायी, वह सार्वजनिक प्रकाश के लिए समर्पित है।

योगिनियों का एक विशेष समूह, जिसके अन्तर्गत डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी और याकिनी आती है, तन्त्र शास्त्र में अपना विशेष महत्व रखती हैं। मनुष्य मात्र के शरीर में सर्वत्र शक्ति का संचार करनेवाली सूक्ष्म वाहिकाओं की श्रृंखला है जो रीढ़ के साथ आगे बढ़नेवाली मुख्य वाहिका, सुषुम्ना से फैलती हैं। रीढ़ के आधार पर स्थित मूलाधार चक्र से लेकर मस्तिष्क के शीर्ष पर स्थित सहस्रार चक्र तक सभी सातों चक्र की अध्यक्षता उपर्युक्त योगिनियाँ करती हैं। मिथिला की तन्त्र–परंपरा के अनुसार, इन सातों योगिनियों का सम्बंध कोबर के सातों चक्र या पत्तों से है; प्रत्येक योगिनी एक–एक चक्र की अध्यक्षता करती है। तान्त्रिकों का एक अन्य वर्ग कोबर चित्र के दाहिने भाग के तीन पत्तों को पिंगला, बाम भाग के तीनों पत्तों को इड़ा और केन्द्रीय पत्ते का भेदन करनेवाले बाँस को सुषुम्ना मानता है।

कोबरघर की भीतरी सभी दीवाल विविध प्रकार के चित्रों से भरी होती हैं। पूर्वी दीवाल पर पूजन के लिए विस्तृत 'कोबर' बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त चारों कोण में 'नयना योगिनि', दक्षिणी दीवाल पर वर–बधू द्वारा बेलपत्र तोड़ने का दृश्य, और दूध–नहान का दृश्य अंकित रहता है। 'दूध–नहान' की विधि बधू का भाई करता है। इस विधि में बधू को लकड़ी के कठौत में बैठा कर भाई एक मन्त्र का उच्चारण करता है –– ''दूधे नहाउ, पूते बियाउ''। कठौत में जमा हुए स्नानवाले जल को फेंका नहीं जाता है बल्कि एक विशेष पात्र, सुवर्णा में जमा रख लिया जाता है। जब वर अपनी बारात के साथ दरवाजे पर पधारते हैं तब बधू का भाई सुवर्णावाले जल में एक आम का पल्लव रख कर, उस जल से सिक्त करते हुए, वर का परिछन (पारंपरिक स्वागत–विधि) करता है। इसके बाद जब बारात जनवासा में स्थान ग्रहण करती है तब बधू का भाई उस जल

से वर और बाराती के चरण पखारने की विधि करता है। इतना पवित्र माना गया है मिथिला में बधू के शरीर से निकले स्नान–जल को, जिससे परमादरणीय अतिथि, वर और उसके श्रेष्ठ जनों के पैर पखारे जाते हैं। कोबरघर के अन्य महत्वपूर्ण चित्रों में बाँस, बर्रे, कमलदह अरिपन, लटपटिया सुग्गा, विध–विधाता, दशावतार और अनेकों गीत–कवित्त के अतिरिक्त वानस्पतिक चित्र होते हैं।

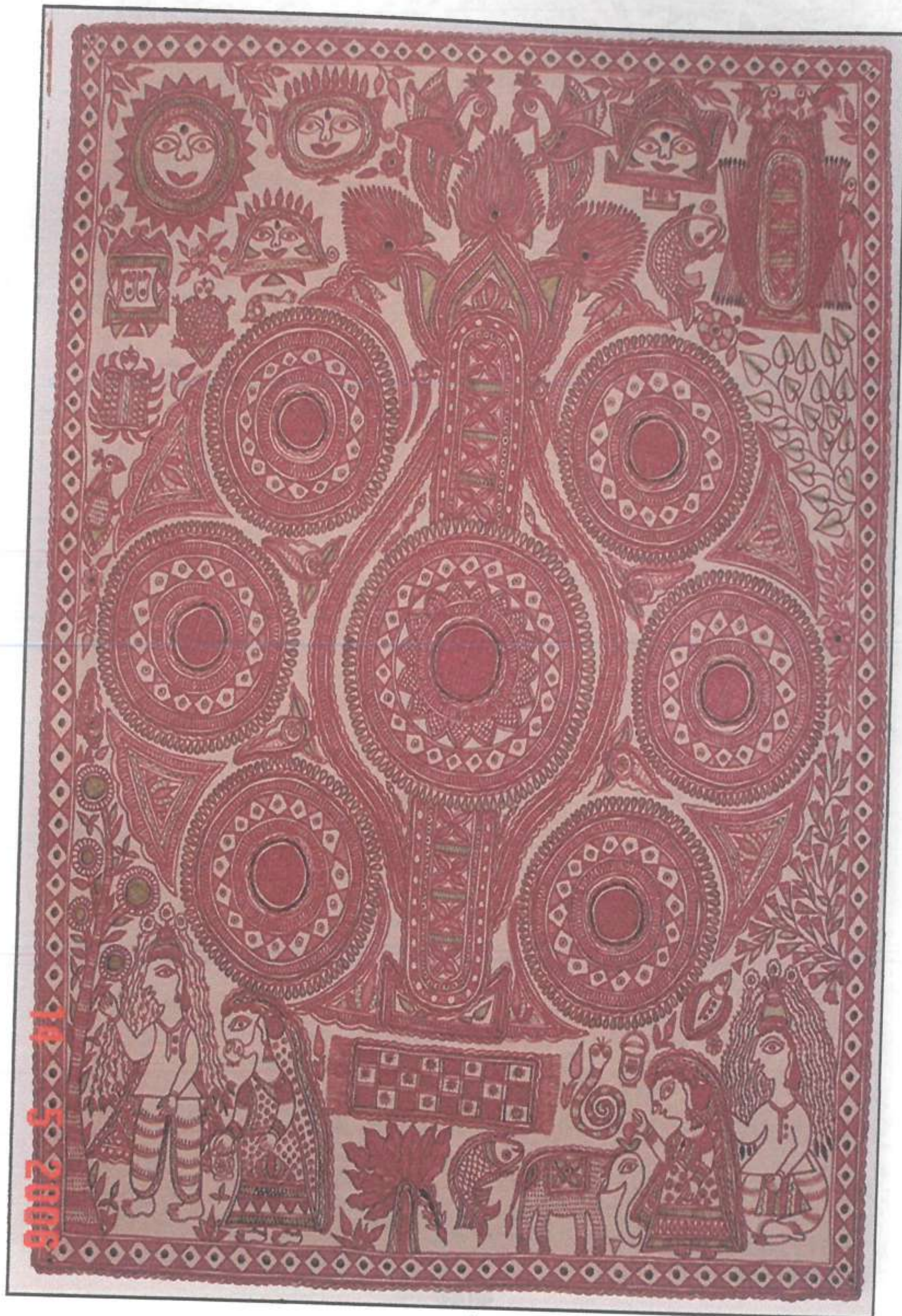
जल–मण्डल : मिथिला चित्र–तन्त्र और आधुनिक विज्ञान के जल–परिमाण का सिद्धान्त समान है। कोबर–तन्त्र के अनुसार, पृथ्वी पर दो–तिहाई भाग में जल है। कोबर–तन्त्र में जिस उनचास खण्डोंवाले वास्तु–क्षेत्र की कल्पना की गयी है, जिसके मध्य में मणिपद्म का योग–मण्डल है, उसके तीन तरफ अनन्त जल–राशि है। कोबर–क्षेत्र के दाहिने भाग में कमलदह है, कमल से भरा अनन्त सरोवर और कोबर के अद्भुत प्रासाद के बाम भाग में 'बर्रे', अर्थात परिपक्व कमल से भरा सरोवर। इस जल–राशि में अनेक प्रकार के जल–जन्तु रहते हैं – मत्स्य, कच्छप, सर्प, बिच्छू, काँकोर, मेढक, मगरमच्छ, सीपी–शंख आदि जो मिल–जुल कर प्राकृतिक पारिस्थिकी या पर्यावरण–सन्तुलन का निर्माण करते हैं।

वन–मण्डल : सप्तमहल कोबर के पश्चिम या पार्थिव भाग में अत्यन्त विशाल बाँस का वन है, गोलाकार, अन्तरिक्ष की तरह विस्तीर्ण। बाँस का यह वन विश्व–परिवार या समस्त जीवादि की निरन्तर अभिवृद्धि का द्योतक है। कोबर–चित्र में नारियल, सुपाड़ी, लवंग, इलायची (दक्षिणी), आम, महुआ, पान, केला और बेल के वृक्ष अनिवार्य रूप से बनाए जाते हैं। कोबर–चित्र में इन वृक्षों के चित्र का निहितार्थ यह है कि सृष्टि के सन्तुलन के लिए वृक्षों का होना अनिवार्य है। कोबर–चित्र में दर्शाये गए ये वृक्ष, खास कर सुपाड़ी, लवंग और दक्षिणी या इलायची दक्षिण भारतोय वृक्ष हैं जो कदाचित कोबरचित्र के मुख्य उपयोगकर्त्ता, कायस्थों के कर्णाटकी उद्गम की ओर संकेत करते हैं।

जैव–मण्डल : आज का मानव समाज मात्र अपनी ही अभिवृद्धि के लिए चिन्तित है, और उसी चिन्ता में वह समस्त प्राकृतिक संसाधनों का भक्षण करता जा रहा है। आज के पर्यावरण–संकट का मूल कारण यही है। केवल हम ही रहें, और कोई नहीं रहे, कुछ भी नहीं रहे; गाछ–वृक्ष, नदी–पहाड़, कीट–पतंग, बाघ–हिरण, मगर–घड़ियाल...... कुछ भी जरूरी नहीं है; इतने पोखर–सरोवर, नदी–नाले लेकर क्या होगा? पहाड़ों को तोड़ो, कंकरीट के नगर बनाओ..... जैसे–तैसे मौज करो..... इस मनोवत्ति के कारण मानव–समाज आज मात्र प्राकृतिक संसाधनों का नाश ही नहीं कर रहा है अपितु समस्त प्रकृति को ही विनष्ट कर रहा है। मिथिला चित्र–तन्त्र इस प्रकृति–विनाशी विचार के विरुद्ध एक शाश्वत नियम का प्रतिपादन करता है। कोबर–तन्त्र पर्यावरण–संरक्षण का एक मनोवज्ञानिक दीक्षा प्रदान करता है। कोबर–तन्त्र एक ऐसी जीवन–पद्धति का पक्षधर है जिसमें सभी जीवादि एक–दूसरे के साथ पारस्परिक रूप से जुड़े हैं। समस्त पाकृतिक अवयव सृष्टि के सन्तुलन के लिए बने हैं जहाँ जंगल–पहाड़, नदी–समुद्र, भूमण्डल, आकाश–मण्डल, जलजन्तु, थलजन्तु, वनजन्तु सबों का समुचित विकास वास्तविक संरक्षण के कारक हैं। कोबर चित्र में प्रदर्शित हाथी, मत्स्य, मेढक, सुग्गा आदि जीव और उन सबसे परिवृत्त मानव–समाज, वर–बधू; जैसे भरा–पुरा एक विश्व–परिवार! यही कोबर चित्र का जैव–दर्शन है।

यन्त्र–मण्डल : कोबर–तन्त्र अनेक प्रकार के तान्त्रिक यन्त्रों की समिष्टि है, अनेकों दार्शनिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सम्पूर्ण मानव–समाज को परस्पर जोड़नेवाले शाश्वत धर्म का बीजकोश है। सभी कोई जिये और सबों का समुचित विकास हो, यह चिन्तन है कोबर चित्र का। जीवन का प्रवाह प्राकृतिक सन्तुलन के बीच किस प्रकार अवाध गति से आगे बढता है, यह शिक्षा मिथिला चित्र का मूल दर्शन है। परम्परागत मिथिला–चित्रशैली म अनेक प्रकार के कल्याणकारी यन्त्र–प्रयोग की पद्धति थी जो प्रकृति की अपार शक्ति की दीक्षा देती थी। आज इन यन्त्रों का ज्ञान और प्रयोग लुप्तप्राय है। मिथिला–चित्रकला में जितने भी चिन्ह, प्रतीक या अलंकरण प्रयोग में हैं उनका मूल स्रोत यद्यपि कि सिन्धु घाटी–सभ्यता में है किन्तु इस ऐतिहासिक रहस्य से अनजान शिल्पी इन चिन्हादि के प्रयोग में आज भी परम्परागत हैं। इसोलिए कहा जाता है कि मिथिला चित्र मात्र सौन्दर्यबोध या कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम ही नहीं हैं अपितु इसकी जड़ें अतीत की अपरिमित सीमा तक फैली हैं, जिसकी एक–एक अभिव्यंजना किसी अनबूझे मन्त्र की तरह अन्तश्चेतना के अतल सागर से उठती ध्वनि की तरह प्रकम्पित हैं, और कम्पन की यही निरन्तरता जीव–जगत का ऐहिक सुख है।

कोबर–चित्र में जितने भी प्रतीक हैं, यथा कमल, मत्स्य, सर्प, बिच्छू, हाथी, भौंरा, सुग्गा, गाछ–वृक्ष, नक्षत्रादि, स्वस्तिक मण्डल, पान, ककबा, योनि, पुरैन आदि सभी एक प्रकार के यन्त्र हैं, शुभाकांक्षा और शुभागम के अवयव हैं।



कोबर



काबर



कोबर

कमलदह अरिपन

कहा जाता है कि पृथ्वी पर जितना जल है उसे यदि एक जगह जमा कर दिया जाय तो उस जलराशि से पृथ्वी का दो तिहाई भाग ढँक जायगा। कल्पना कीजिए कि यह भूमण्डल इतनी जलराशि से भरा एक सरोवर है, समस्त जल–जन्तुओं और कमल पुष्प से भरा हुआ। मिथिला चित्र–परम्परा में ऐसे ही सरोवर को **''कमलदह''** कहा गया है। कमलदह की अधीश्वरी देवता कमला अर्थात लक्ष्मी है, दशमहाविद्या की दसवीं या अन्तिम महाविद्या। दशमहाविद्या की तीसरी शक्ति, सुन्दरी या त्रिपुरसुन्दरी के पति शिव हैं, प्रेम के मांगलिक देवता, जबकि कमला के पति विष्णु हैं, सर्वव्यापी सृष्टि के संरक्षक। उसी प्रकार सृष्टि की सभी वस्तुओं में अन्तर्भूत चेतना, सभी पदार्थ या रूप में अन्तर्यामी सौन्दर्य सुन्दरी है और उस चेतना का प्रकटीकरण, उसकी महिमा का उद्घाटित सौन्दर्य, उत्कृष्ट मनोहरता की अभिव्यक्ति कमला है।

सर्वव्यापी ईश्वर, विष्णु की पत्नी के रूप में वह लक्ष्मी है, ईश्वरीय छाप, लक्ष्मा, जो छाप इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर अंकित है और जिसकी उपस्थिति, कम या अधिक अंश में, कला कहा गया है। इस संसार की सभी वस्तुओं पर उसकी कला किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है। संस्कृत में इस सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य को सुषमा कहा गया है, जो सु समा है, भव्य रूप से समान। कमला उस सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य की देवी है जो समान रूप से सभी वस्तुओं में प्रस्फुटित हुआ है। इस कमला नाम की क्या सार्थकता है? संस्कृत में 'क' शिखर का द्योतक है, शीर्ष और जल का परिचायक है; मल शब्द संस्कृत के मल् धातु से बना है, 'मल्ल धारणे', अर्थात पहनना। इस रूप में कमला का अर्थ हुआ, जो जल को वस्त्र की तरह धारण करे। वेद में एक अर्थपूर्ण उपाधि है, 'अपोवसना', जल से परिवेष्ठित। यह जल क्या है?

वेद में जिसे अपः कहा गया है वह जल गति का द्योतक है, सृजन–क्रिया का आद्य स्पन्दन, प्राण–दायिनी शक्ति, जीवन–दायिनी सत्व का परिचायक है यह जल। यह दिव्य जल, अपो दिविः, शीर्ष, जहाँ से सृजन का आरम्भ होता है, जो अपने प्रवाह में सौर जगत के ज्योतिर्मय ज्ञान को समेट कर आगे बढता है, स्वरवतीः अपः। यह सौर जगत सृजन–देव सवित्र की विराट भूमि का लोक है। इसीलिए कमला उपाधि उचित ही है, सृजन–चेतना के जल रूपी वस्त्र से आवृत या कमलात्मिका, सभी तरह की सृजन क्रिया में अन्तर्भूत आत्म–स्वरूप, सभी जीवों में अपने आप को प्रकट करता रूप–सौन्दर्य।

पुराणों में कमला का वर्णन करते हुए बताया गया है कि अमृत पाने के उद्देश्य से जब क्षीर–सागर का मन्थन हुआ तब यह उससे बाहर निकली, और इसीलिए इसे क्षीर सागर की पुत्रो कहा जाता है, क्षीर–सागर–कन्यका। प्रकट रूप में क्षीर सागर सर्व–व्यापी चेतना का प्रतीक है, अमरत्व लोक, अस्तित्वानन्द की मधुमय ऊम्मि से स्फीत, वैदिक ऋचाओं की मधुमान ऊर्म्मिः। इसीलिए वह इन्दिरा है, इन्दु या चन्द्रमा की बहन, सोम, अस्तित्व का आनन्द, सृष्टि की सभी वस्तुओं का मौलिक परमानन्द जिसका जन्म, पुराणानुसार, क्षीर–सागर से ही हुआ है। वह चेतना की क्रीड़ा है, उसका वाह्य प्रदर्शन है, जगदीश्वर की क्रीड़ा, रमा। सभी जीवादिकों के आश्रय और अवलम्ब के रूप में, सभी के भीतर प्रवाहित चेतना के प्रवाह के रूप में वह श्री है।

इस पृथ्वी पर जल का जो विराट विस्तार है वह सृजन–चेतना का द्योतक है। जल के ऊपर प्रस्फुटित होता कमल एक सजीव प्रतीक के रूप में सृजन–चेतना की उपज है। कमल का पुष्प चारों ओर जल से घिरा रहता है जो इसके कमल नाम को चरितार्थ करता है। जल से उत्पन्न, जलज, अम्बुज, नीरज आदि इस फूल की उपाधियाँ हैं। यह ऐसा पुष्प है जो सूर्योदय के संग प्रस्फुटित होता है, बढता है और सूर्यास्त होते ही मुरझा कर बन्द हो जाता है। यह फूल विशिष्ट रूप से प्रकाश की क्रीड़ा से जुड़ा है जो प्रतीक रूप से सौर–सत्य के ज्योतिर्मय ज्ञान का प्रतिपादन करता है। कमल–दल अनेकों संख्या वाले कहे गए हैं, शतदल, सहस्रदल, अनेकों तहवाले पत्रों का पुष्प, जिसके सभी दल एका–एकी खुलते हैं जो जीव के मन में प्रच्छन्न चेतना के क्रमिक प्रस्फुटन को दर्शाता है। यही कारण है कि कमल प्रतीक का प्रयोग प्रचुरता से अनेकों सृजनात्मक रचना, कला, वास्तुकला, मूर्तिकला, काव्यकला, दर्शन और योग में हुआ है।

पुराणों में कहा गया है कि ब्रह्मा, जिससे समस्त विश्व का जन्म हुआ है, वह स्वयं कमल से उत्पन्न हुआ है, पद्मसम्भव है। जब सृष्टि प्रारम्भ करने के उद्देश्य से महाप्रलय होता है और सम्पूर्ण संसार जलमग्न हो जाता है तब अनन्त नाग को अपनी शय्या बना कर विष्णु योगनिद्रा में चला जाता है। उसी अवस्था में विष्णु की नाभि से सृजनात्मक चेतना का एक कमल प्रस्फुटित होता है। उस कमल पर ब्रह्मा अवतीर्ण होता है और सृष्टि की क्रिया में लग जाता है। वेद में विष्णु के परम लोक को स्वर्ग का नेत्र कहा गया है, दिवीव चक्षुराततम्। इसीलिए पुराण में विष्णु को कमलाक्ष, कमलनयन कहा गया है, सृष्टि के संरक्षण में सतत सतर्क सृष्टि–चैतन्य से प्रदीप्त नेत्र।

संस्कृत के 'पद' धातु का अर्थ होता है पैर पर खड़ा होना, इसीलिए पद धातु से बने पद्म का अर्थ होता है पैर रखने का स्थान या पादासनी। विष्णु की नाभि से निसृत कमल पर ब्रह्मा सृष्टिक्रिया करता है, इसीलिए विशेष अर्थ में कमल को पद्म कहा गया है। योग में सूक्ष्म शरीर के चेतना–केन्द्रों को भी पद्म कहा गया है। दशमहाविद्या की अन्तिम महाशक्ति कमलात्मिका तन्त्र में घनिष्ठ रूप से कमल से जुड़ी है। इसीलिए इसे कमल की देवी, कमला या पद्मा कहा गया है और चित्र अथवा मूर्तिकला म कमल पर बैठी या खड़ी, दो हाथों में कमल धारण किए, एक हाथ भय का निवारण करता हुआ और एक हाथ वर प्रदान करता हुआ दिखलाया जाता है। मिथिला चित्र–परम्परा में विष्णुप्रिया कमला को 'कमलदह अरिपन' की अधिष्ठात्रो देवी कहा गया है।

बर्रे अरिपन

जिस प्रकार श्रीचक्र के केन्द्रीय बिन्दु में देवी त्रिपुर सुन्दरी का निवास कहा गया है, जहाँ रत्नमय ज्योतिर्मय चिन्तामणि–गृह में सृजन की असंख्य धारा एक स्थान पर मिलती हैं, उसी प्रकार परिपक्व कमल के अन्नमय कोश में कामेश्वर (शिव) और कामेश्वरी का विलास–कक्ष कहा गया है। सुधा–सिन्धु में फले असंख्य ऐसे ही परिपक्व कमल के वन को मिथिला–अरिपन की परम्परा में **'बर्रे'** कहा गया है। अमृत का सागर, सुधा–सिन्धु का महाकमल–वन, जहाँ से समस्त सृष्टि का आनन्द, शिव और शक्ति के मिलन से जीवन–रस का प्रवाह संसार को आप्लावित करता है, बर्रे कहा गया है।

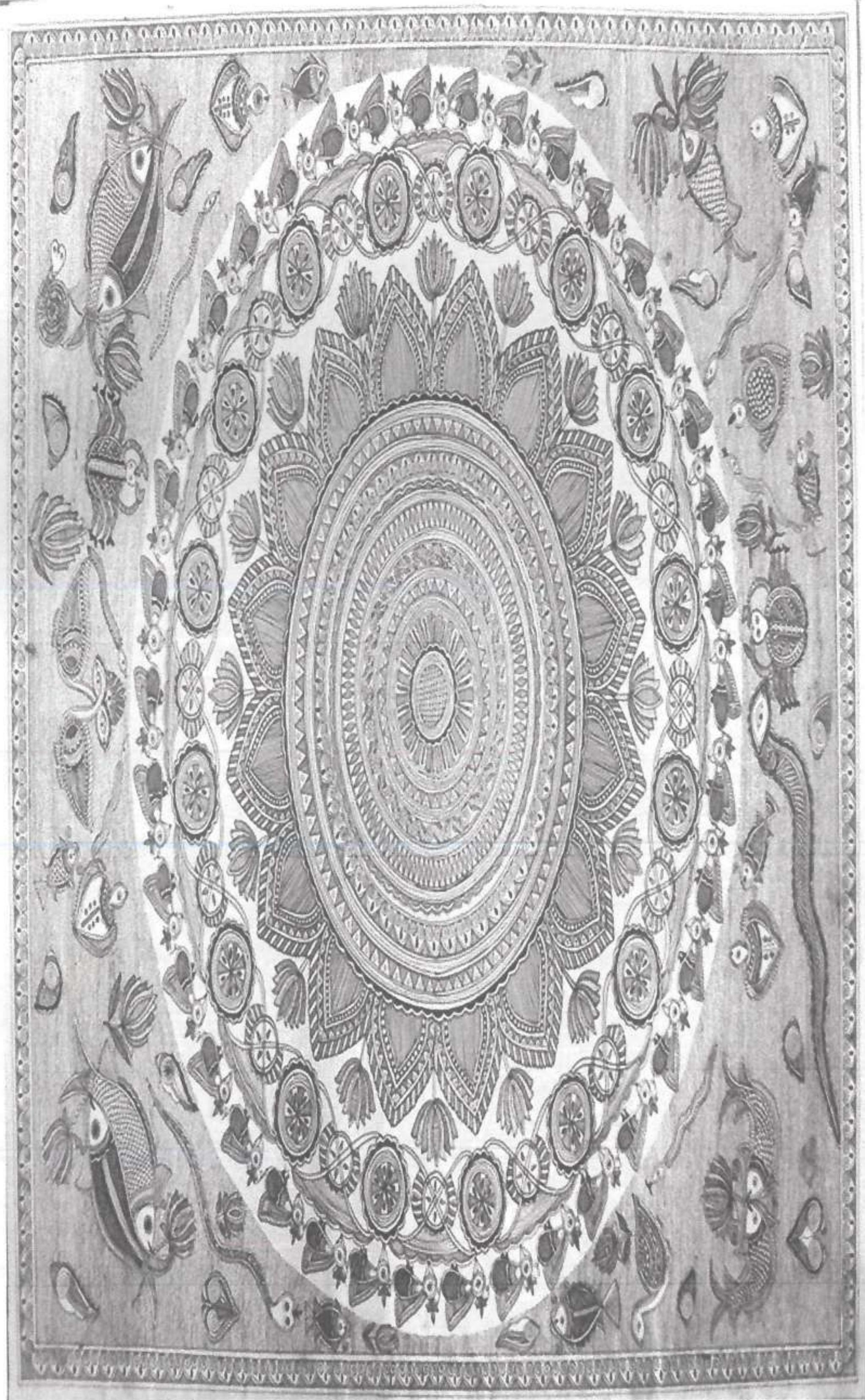
दशमहाविद्या की तीसरी महाशक्ति त्रिपुर सुन्दरी को आद्य इच्छा, सम्पूर्ण सृष्टि में जीवन का संचार करनेवाला दिव्य प्रेम कहा गया है जो सृष्टि की सभी वस्तुओं में मूल परमानन्द का परिवाह करता है। तान्त्रिक विद्वानों के अनुसार, ज्ञान के प्रकाश–स्रोत के रूप में सूर्य को दैवत्व का साक्षात प्रतीक कहा गया है, जबकि उससे आविर्भूत क्रिया के रूप में अग्नि को प्रकट प्रतीक कहा गया है। इसी प्रकार चन्द्रमा को दैवी इच्छा का प्रकट प्रतीक कहा गया है जो प्रत्येक प्राणी में प्रेम, जीवन–रस और आनन्द का संचार करता है। वैदिक ऋषियों ने भी चन्द्रमा को पवित्र सोम, पवमान सोम कहा है जो अस्तित्व का आनन्द, रस, जीवनदायिनी रस का प्रतिनिधित्व करता है।

तान्त्रिकों का कथन है कि जब परमेश्वरी अपने–आप को काल–रूप में उत्परिवर्तित करती है तब वह काल का पन्द्रह भाग बन जाती है और तिथि कहलाती है जो चन्द्रमा के आकार को बढ़ाती और घटाती है। इन पन्द्रह तिथियों या कला का आविर्भाव देवी के पंचदशी मन्त्र से हुआ है और सोलहवीं वह स्वयं है। इसीलिए देवी षोडसी कहलाती है। कला या तिथि उसी के रूप हैं, नित्य तिथि। तान्त्रिक साधना में, मस्तिष्क के केन्द्र में, सहस्रार में इस रहस्यमय चन्द्र का स्थान कहा गया है, अमरत्व का सुधा–सिन्धु, महाकमलवन, परिपक्व कमलों का वन, जहाँ शिव–शक्ति के शाश्वत मिलन से जीवानन्द घटित होता है।

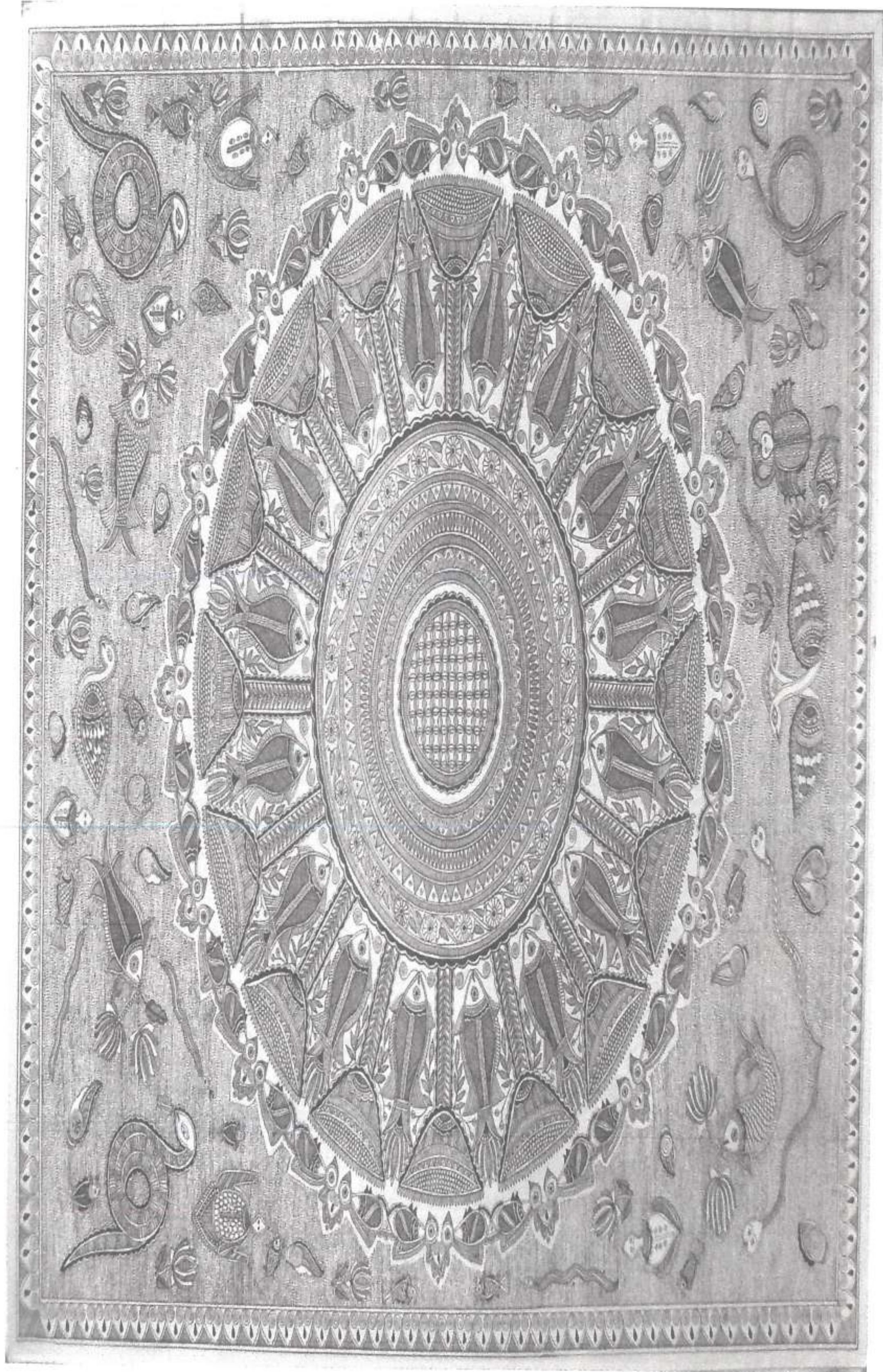
सुन्दरी परमेश्वर की इच्छा के आद्य अंश का प्रतिनिधित्व करती है, कामकला, जो प्रेम का आधार है, जीवनदायी बन्ध जो सर्जक और सृजित को परस्पर बाँधता है, आनन्द और सौन्दर्य के प्रवाह के रूप में अपने आप को व्यक्त करता है। वह आद्य चेतना है, चित्, सभी वस्तुओं के अभ्यन्तर प्रवाहित होनेवाला जीवन–रस है। कामेश्वर की शक्ति–रूप में वह कामकला, कामेश्वरी, सुन्दरी और सौन्दर्य की अवतार है। वह सत्–चित्–आनन्द, त्रिपुर लोक में व्याप्त सौन्दर्य की अधिष्ठात्री शक्ति है, वह त्रिधा जगत की अन्न–प्राण–मनस् है। किन्तु इस त्रिधा विश्व का निर्माता कौन है? वह विराट सर्वव्यापी विष्णु है, जिसने तीन डगों में भूलोक से आकाश तक को नाप लिया (इदम विष्णुर विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् –– ऋग्वेद) और आकाश में सभी लोकों की स्थापना की।

रुद्र के संहार–कार्य के लिए विष्णु ही आकाश उपलब्ध कराता है। शिव की शक्ति त्रिपुरसुन्दरी ज्ञानातीत त्रिधा जगत में अन्तर्भूत सौन्दर्य है, किन्तु वह विष्णु की शक्ति कमला है जो सौन्दर्य और आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए इस ब्रह्माण्ड में त्रिपुर सुन्दरी को आवश्यक क्षेत्र उपलब्ध करवाती है। सभी पदार्थों में अन्तर्भूत चेतना और सभी तरह के रूप में अन्तर्वासी सौन्दर्य सुन्दरी है। सभी तरह की चेतना की अभिव्यक्ति और सभी पदार्थ में उद्घाटित सौन्दर्य की गरिमा और अतिसंवेदनशील मनोहरता कमला है। विष्णु की पत्नी क रूप में वह लक्ष्मी है, ईश्वरीय छाप लक्ष्मा, जिसकी छाप इस ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं पर अंकित है और जिसकी किसी न किसी रूप में, कला रूप में, सभी वस्तुओं में उपस्थिति होती है। एक से बढ़ कर एक मोहक वस्तु कभी घृणा की वस्तु बन जाती है, यदि उसमें सुन्दरी की गरिमादायिनी कला उपस्थित नहीं हो। संसार की सभी वस्तुओं में किसी न किसी अंश में यह कला अवश्य उपस्थित रहती है।

त्रिलोक की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है त्रिपुरसुन्दरी। पुर का अर्थ नगर, स्थान या क्रिया का क्षेत्र होता है और त्रिपुर का अर्थ होता है तीन–स्तरीय क्षेत्र या त्रिधा–जगत। वैदिक ऋषियों ने निखिल ब्रह्माण्ड को पृथक–पृथक भुवन या संसार की श्रेणी के रूप में देखा –– उच्चतर त्रि–स्तर में जन, तप और सत्यलोक की व्याहृति; निम्न त्रि–स्तर में भू, भुवः और सुवः लोक की व्याहृति और उससे जुड़ा महस लोक। उपनिषद के आचार्यों ने त्रिगुण ब्रह्म कहा –– सत् – चित् – आनन्द, सत्य–चेतना–आनन्द जो अपने आप को अन्न, प्राण और मनस (भौतिक, जैविक और मानसिक) त्रिधा रूप में अध्यात्म ज्ञान या विज्ञान के माध्यम से व्यक्त करता है। तान्त्रिक विद्वानों की व्याख्या में सृष्टि को आद्य इच्छा का मनोवेग या अन्तःप्रेरणा कहा गया है जो एक स्पन्दन के रूप में घटित होता है, एक कम्पन, नाद, जो अपने आप को एक बिन्दु में संकेन्द्रित करता है और जिस संकेन्द्रन से त्रिकोणाकार तीन बिन्दु बनते हैं, योनि, जो सभी तरह के प्रकटीकरण का मूल स्रोत है। परम देवी, परम माता अपने आप को त्रिक् रूप में प्रकट करती है और त्रिपरा या त्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। वह स्वर्ग, मर्त्य और पाताल के तीनों लोकों में; जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं में; इच्छा, ज्ञान और क्रिया की तीनों शक्तियों में; (जिसका माप किया जा सके) माप, (जो माप करे) मात्रि और (जो माप करने योग्य हो) मेय तीनों त्रिपुटी में; ज्ञान, ज्ञात्रि (जाननेवाला) और ज्ञेय (जानने योग्य) समस्त त्रिक् में अन्तर्भूत है। वह सभी त्रिका से बढ़ कर श्रेष्ठ है, इसीलिए त्रिपुरसुन्दरी या त्रिपुरा कही जाती है। मिथिला चित्र–परम्परा में त्रिपुर सुन्दरी को 'बर्रे अरिपन' की अधिष्ठात्रो देवी कहा गया है।



कमलदह अरिपन



बरें अरिपन

मिथिला परम्परा में **'बाँस अरिपन'** को, हरितिम बाँसों के सघन बीट को आकाश की तरह विस्तीर्ण दिखलाया जाता है। तान्त्रिक दृष्टि से महाविद्या भुवनेश्वरी इस अरिपन की अध्यक्षीय देवता कही गयी है। दशमहाविद्या की चौथी महाशक्ति भुवनेश्वरी को आकाशीय अवधारणा का प्रतीक कहा गया है। जिस प्रकार परम दैवी कालात्म, काली सर्वोच्च काल–शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार भुवनेश्वरी परमात्म तत्व के विस्तार की आत्म–कल्पना है, सृष्टि में आकाशीय अवधारणा का प्रतीक। तान्त्रिक आचार्य ज्ञानातीत परमेश्वर की कल्पना प्रकाश–रूप में करते हैं, मूलभूत प्रकाश के रूप में। जब वह अपने आप को प्रकट करने के लिए आत्मचालित होता है तब एक तरह का परिसीमन होता है, हदबन्दी, एक तरह का दृश्य प्रपंच और परिस्थिति की सृष्टि होती है और प्रकाश आकाश, अन्तरिक्ष, विराट विस्तार बन जाता है। संस्कृत में 'आ' उपसर्ग ह्रास, विस्तार या सीमा का सूचक है; आङ् ईषदर्थे'भिव्याप्तौ सीमार्थे ––– (अमरकोश)। प्रकाश, तात्विक ज्योति स्वयं अपने आप पर एक तरह की सीमा आरोपित करता है और आकाश, अन्तरिक्ष बन जाता है; एक माध्यम जिससे प्रकाश गमन करता है और विस्तारित होता है। यह स्वयं–विस्तार किस प्रकार संभव होता है? ईश्वर जब अपने आप को प्रकट करना चाहता है तब वह तत्क्षण स्वयं अपनी ओर देखता है; उपनिषद कहते हैं, तदैक्षत, उसने देखा। ईश्वर का यही अवबोधन आकाश रूप में उसके विस्तार का कारण बनता है, नाम और आकार की एक संज्ञा बनती है और उसी समय परमेश्वर की दृष्टि से सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है; दृष्टि से सृष्टि का यही सिद्धान्त है। सृष्टि की इस भाव से कल्पना करने की शक्ति भुवनेश्वरी है। यह कल्पना–शक्ति ज्ञान–शक्ति में परिवर्तित होती है, इसलिए भुवनेश्वरी परमेश्वर की ज्ञान–शक्ति है जिस प्रकार त्रिपुरसुन्दरी परमेश्वर की इच्छा–शक्ति होती है। और अन्तरिक्ष क्या है? आकाश या अन्तरिक्ष कुछ और नहीं, विस्तार का प्रत्यक्ष बोध है। हम जिसे आकाश या अन्तरिक्ष कहते हैं वह वस्तुतः विस्तार की एक सीमा है जहाँ तक हम देख सकते हैं, जहाँ तक हमारी दृष्टि की पहुँच हो सकती है। ज्यों–ज्यों हमारी दृष्टि का विस्तार होता है, आकाश बढ़ता जाता है और हम ईश्वर के आत्म–विस्तार को उतना अधिक अनुभव करने में सक्षम हो पाते हैं।

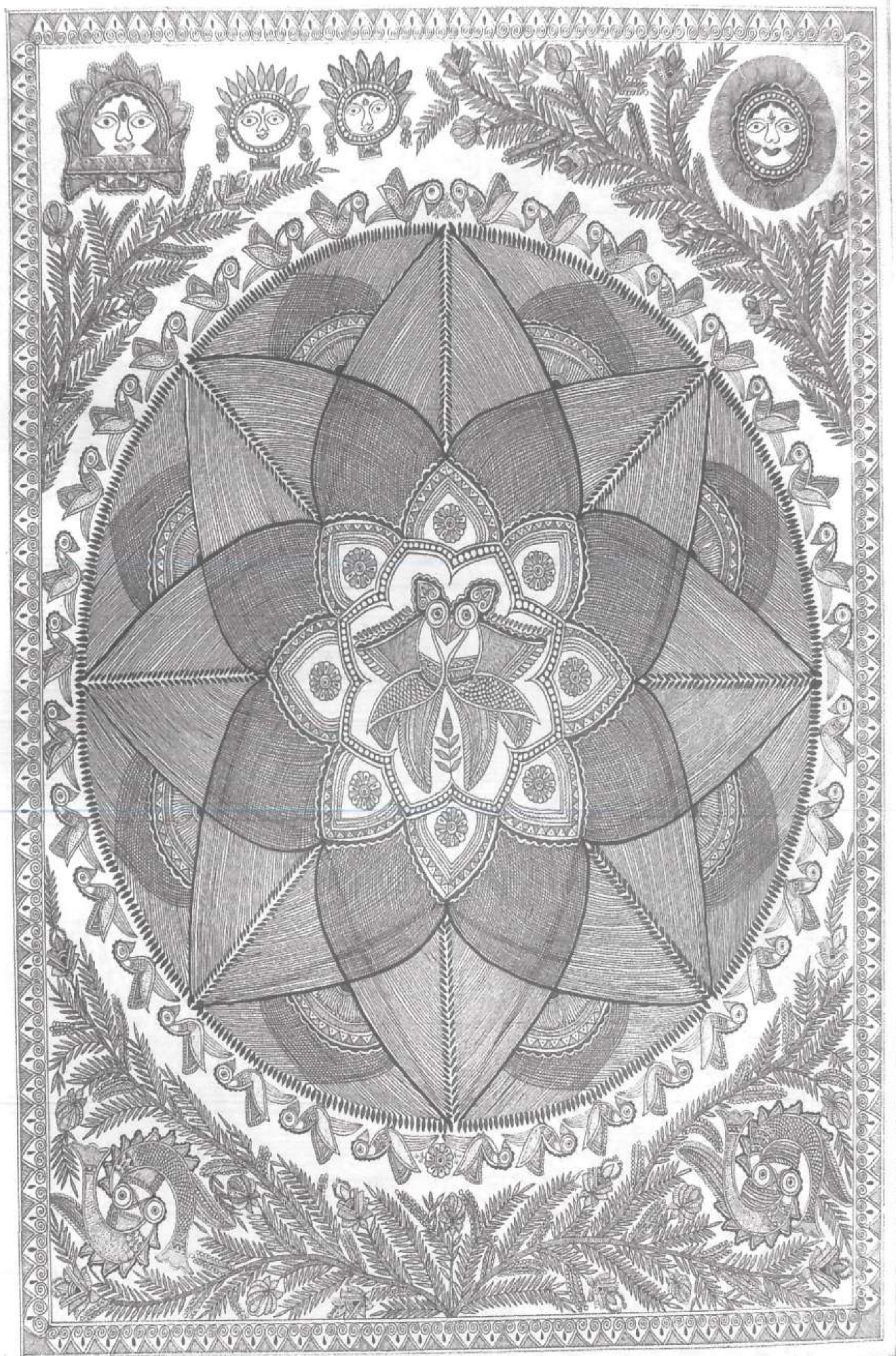
परमेश्वर की दृष्टि अपार है और इसीलिए आकाश का विस्तार अपार है, आद्य आकाश जिससे समस्त संसार अस्तित्व में आया। संस्कृत में संसार को भुवन कहा जाता है, जो अस्तित्व में है, लोक, जिसे अनुभव किया जा सके। और इसीलिए परम माता को भुवनेश्वरी कहा जाता है, सभी लोकों की सर्वोच्च सत्तामयी। आकाश–रूप में वह संसार का सृजन ही नहीं करती है बल्कि स्वयं उसमें अवस्थित रहती है, उसका सम्पोषण करती है, उसे अवलम्बन देती है और उसे धारण करती है जिस कारण से जगद्धातृ कहलाती है। वेद में भुवनेश्वरी को अदिति का समरूप कहा गया है जो सभी देवताओं की माता है। वैदिक ऋषि सर्वोच्च ईश्वर का उल्लेख करते समय तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं – सत्यम्, ऋतम् और वृहत्। सत्यम् वह है जो सत् है, जो विद्यमान है और समस्त अस्तित्व या जीव के मूलभूत सत्य का द्योतक है। जब यह सत्य सक्रिय सृजन के लिए संघटित होता है या क्रिया के नियम–रूप में सूत्रबद्ध होता है तब उस अवस्था को ऋत् या धर्म कहा जाता है। वृहत् वह आत्मबोध है, अनन्त चेतना है जिसके माध्यम से सत्यम् ऋतम् बनता है। वृहत् अन्तरिक्ष है, सत्यम् और ऋतम् का मध्य क्षेत्र, उपरि–अर्द्ध, परार्द्ध का निम्न–अर्द्ध, अपरार्द्ध का मध्यवर्त्ती क्षेत्र। अदिति को वृहत् कहा गया है, विराट अनन्त चेतना, अदितिर्यन्तरिक्षम् (ऋग्वेद), सर्वोच्च आकाश, परम व्योम। दिति से अदिति का मात्र वैपरीत्य नहीं है बल्कि अदिति अपने अधिकार से सम्पूर्ण अस्तित्व की सर्वग्रासी शक्ति है, जो सम्पूर्ण चेतना का सर्वाच्छादी शक्ति है (अदिति शब्द अद् धातु से बना है जो ग्रास–सूचक है)। ऋग्वेद में उसे 'अनर्वा' कहा गया है, बिना किसी सवारी या वाहनवाली, क्योंकि वह स्वयं सवारी है जिसके माध्यम से सत्यम् अपने आप को ऋतम् में बदलता है, दैवी संभावना का वास्तविक प्रकटीकरण होता है। इसी कारण से यजुर्वेद में इसे ऋत् की पत्नी कहा गया है, ऐसी शक्ति जो ऋत् को फलदायी बनाती है।

चूकि ईश्वर आकाश–रूप में अपना स्वतः विस्तार करता है, इसीलिए कोई वस्तु आकार या नाम धारण करता है। आकाश ने अनाम दैवी सत्ता को एक आकार दिया। तैत्तिरीय उपनिषद कहता है कि आकाश ब्रह्म का शरीर है, आकाश शरीरम ब्रह्मः। आकाश का आच्छादन करनेवाला विशुद्ध प्रकाश अदिति है; इसीलिए वह गरिमामयी है और सत्य–प्रकाश की स्वामिनी है, ज्योतिष्मतीः, स्वरवतीः है। वह स्वयं आकाश–रूप में अपने प्रकाश की सीमा बाँधती है, कोई अन्य शक्ति उसके प्रकाश को क्षीण नहीं कर सकती। इसीलिए ऋषिगण उसे 'ज्योतिर्मय गौ' कह कर सम्बोधन करते हैं जिसका बध नहीं किया जा सकता; अघन्य धेनुः (ऋग्वेद)।

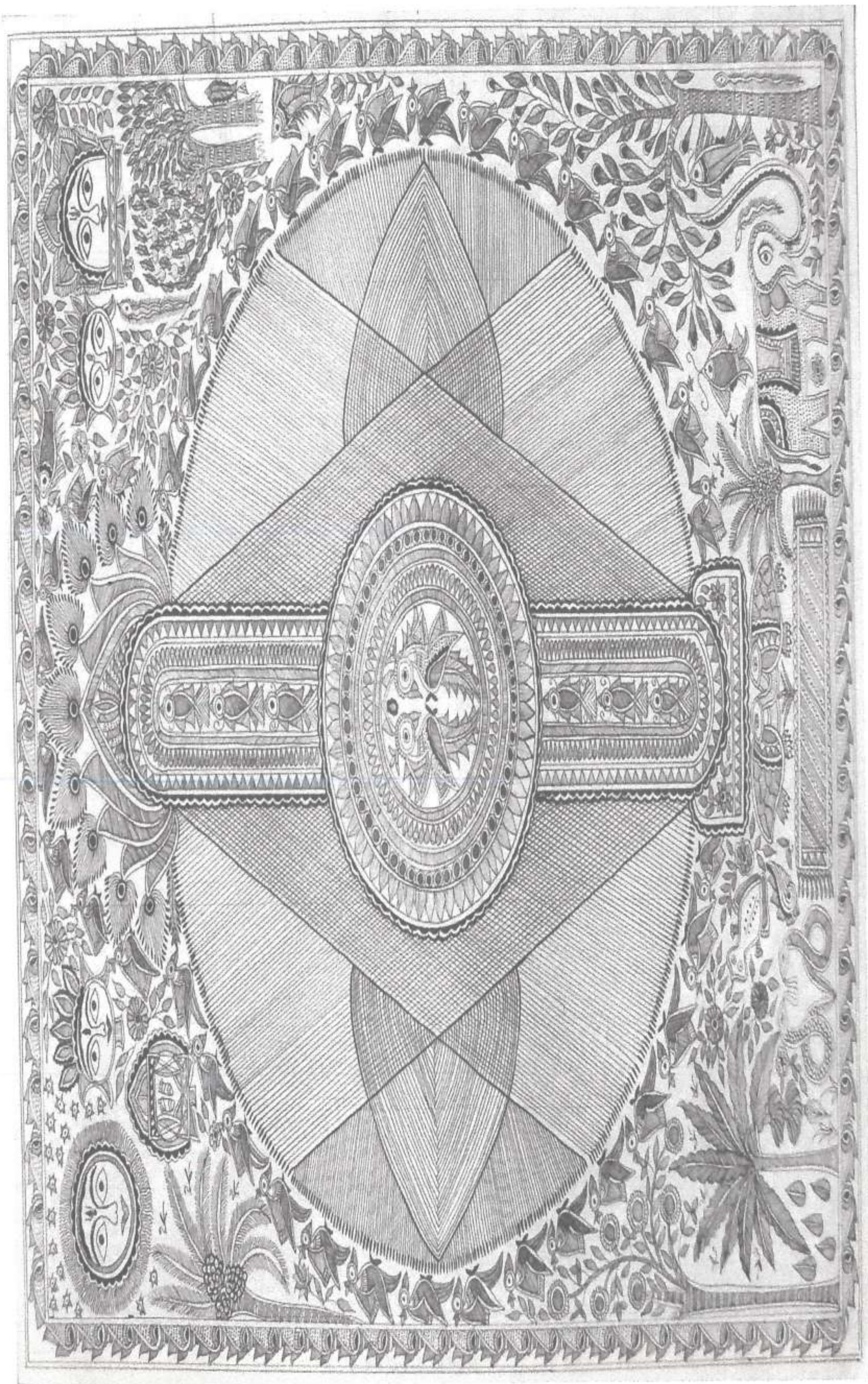
पुराणों में दिति और अदिति दोनों को कश्यप ऋषि की पत्नी कहा गया है। दिति दानवों की माता थी जबकि अदिति को सभी देवताओं की माता कहा गया है। कश्यप का अर्थ होता है द्रष्टा, जो देखता है, जिसे प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त है, पश्यति इति कश्यपः। अदिति ज्ञान–शक्ति है और पत्नी के रूप में वह अपने पति कश्यप की शक्ति है, बोध या कल्पना–शक्ति। वह आकाश का विस्तार है जो ज्ञान के प्रकाश से आच्छादित है। इस रूप में तान्त्रिक परंपरा की भुवनेश्वरी और वेद–पुराणों में वर्णित देव–माता अदिति एक ही है।

भुवनेश्वरी का एक अन्य नाम माया भी है। माया शब्द संस्कृत के मा धातु से बना है जो माप करना, नाप–जोख करने का सूचक है। जो अपरिमेय है, अमापनीय है वह आकाश–रूप में मापा गया। वेद में मापने का काम विष्णु का है। वह सर्वव्यापी विराट पुरुष है जो तीन डगों में समस्त अन्तरिक्ष को माप लेता है, त्रोणि पद विचक्रमे (ऋग्वेद)। उसके डग नेत्र जैसे हैं जो स्वर्ग में विस्तारित हैं, दिवीव चक्षुर आततम (ऋग्वेद)। वेद की एक कल्पना में अदिति की प्रार्थना सर्व–व्यापी विष्णु की पत्नी के रूप में भी की गयी है। वह विष्णु की योग–माया, उसका यौगिक चमत्कार है, परम अद्‌भुत कह कर ऋषियों ने जिसका जयघोष किया है। जिस आकाश को मापा नहीं जा सकता था, जो अपरिमेय था, उसे मापने में विष्णु ने जो चतुराई या करतब दिखलाया, उसे मायावादियों ने एक तरह की धूर्त्तता, छल या जादूगरी जैसी चालाकी बताया है और इसीलिए, उनके मत में, माया धोखा या भ्रम का समानार्थी शब्द है, किन्तु तान्त्रिक और वैदिक ऋषियों के अनुसार माया भ्रम या धोखा नहीं है। माया देवताओं की परम माता है, अदिति, विराट अनन्त चेतना जो अपने आप को सीमित आकार में बदल सकती है। वह परम सर्वसत्तामयी अधीश्वरी, भुवनेश्वरी है। माया वह आकाश है जो विष्णु द्वारा मापा गया; वह ईश्वर की आद्य परिकल्पना है; वह आद्य ज्ञान की शक्ति है। भुवनेश्वरी को प्रकृति भी कहा गया है, सृजन–कार्य में सक्रिय प्रकृति। मिथिला अरिपन–परम्परा में **''बाँस अरिपन''** इसी धारणा का प्रतीक है। सामान्य अर्थ में इसे विश्व परिवार की वंश–वृद्धि का यन्त्र कहा जाता है।

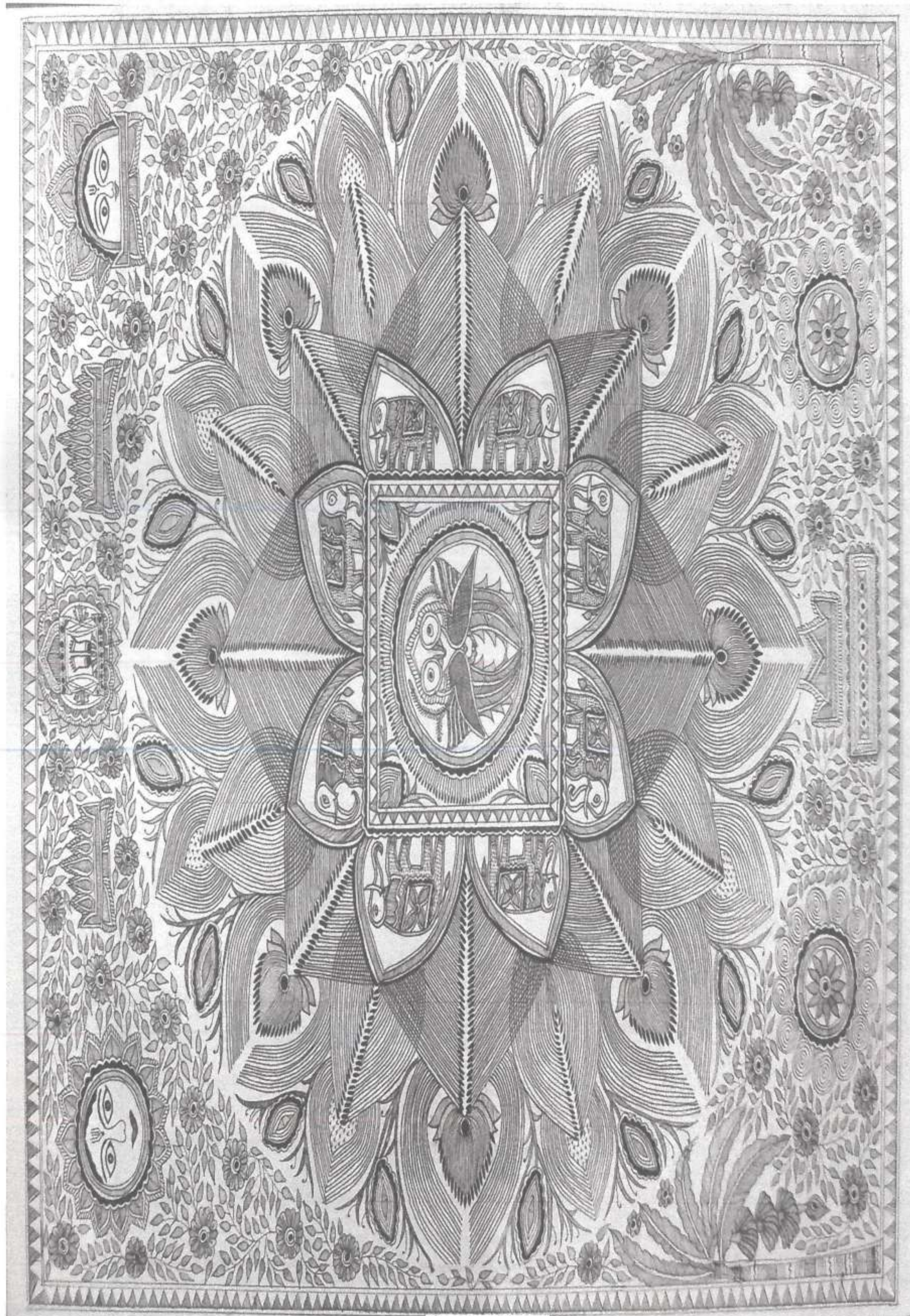
मिथिला–परम्परा म ''बाँस अरिपन'' या ''बाँस यन्त्र'' का प्रयोग मुख्यतया वैवाहिक संस्कार में होता है। कन्या पक्ष में इसका आलेखन अनिवार्य रूप से कोबरघर में और कोबरघर के द्वार पर किया जाता है जहाँ बैठ कर बधू की बहन और बहनोई ''लाबा भूजने'' की विधि पूरा करते हैं। इस विधि में पूर्वी दिबाल पर संक्षिप्त बाँस अरिपन (जिस पर हरा सुग्गा बैठा हो) और 'लाबा भूजते स्त्री–पुरुष'' का चित्र तो रहता ही है, हरे बाँस की एक करची (बाँस की शाखा) भी दिबाल से लगा कर भूमि में गाड़ी जाती है। वर–पक्ष में ''बाँस अरिपन'' का आलेखन उस कागज पर किया जाता है (पाँच अन्य चित्रों के साथ) जिसमें बधू के लिए सिन्दूर भर कर ले जाया जाता है। लोकमत में, ''बाँस अरिपन'' वंश–वृद्धि का प्रतीक है और हरा सुग्गा प्रेममय सुखी जीवन का द्योतक है। इस रूप में, बाँस–अरिपन सुखी–समृद्ध, भरे–पुरे परिवार का प्रतीक है।



बाँस अरिपन



बाँस अरिपन



बाँस अरिपन



चुमाओन अरिपन



मत्स्य अरिपन



मत्स्य अरिपन



हस्ति अरिपन



शंख अरिपन

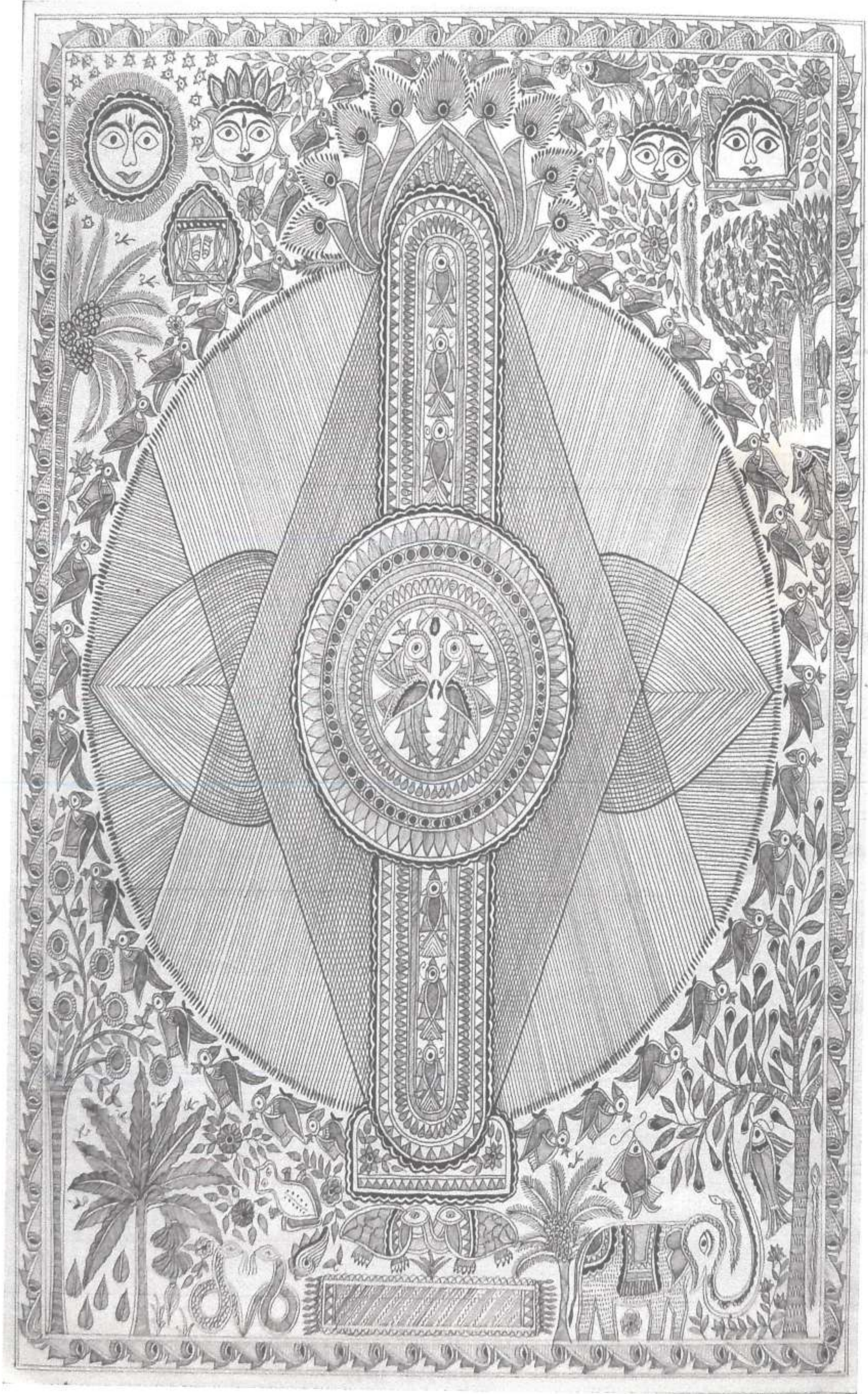
अरिपन – यन्त्र

ऋतु – यन्त्र

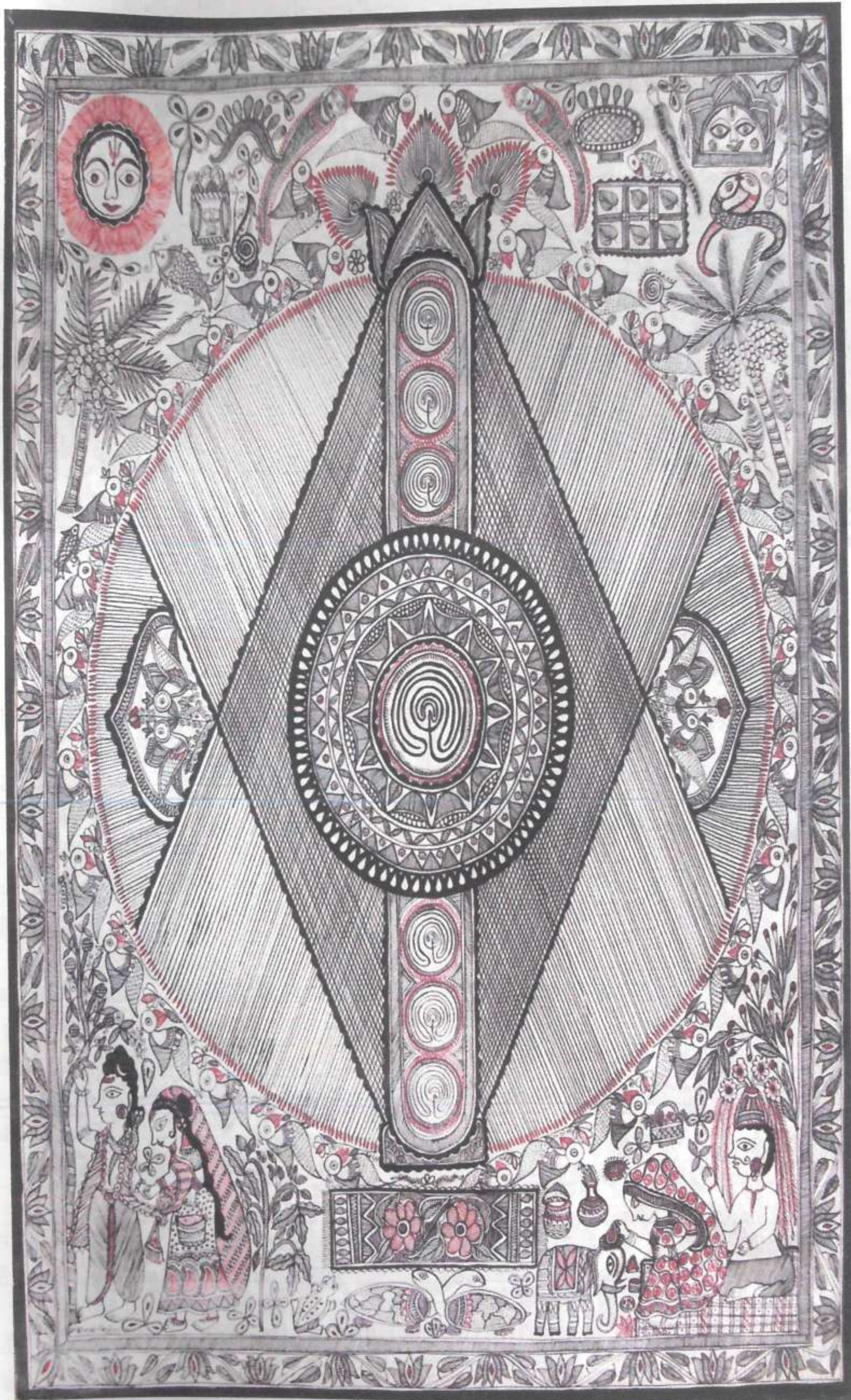
आधुनिक समय के पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि आज से मात्र लगभग चालीस–पैंतालिस वर्ष पहले (सन 1955–'60 तक) तक मिथिला के (ब्राह्मण और कायस्थ) समाज में किसी कन्या के पहली बार रजस्वला होने के अवसर को सौभाग्य और ऊर्वरता का प्रकाशक पर्व मान कर, धार्मिक विधि की तरह मनाने की परम्परा रही है। जब कोई कन्या इस अवसर को प्राप्त करती थी तब परिवार की महिला, पुरुष–अभिभावक को इसकी सूचना देती थी और टोले–मुहल्ले के अन्य परिवारों को निमन्त्रण (हँकार) देकर ऊर्वरता के प्रथम संस्कार का सम्पादन करती थीं। इस क्रम में ऋतु–दर्शन के चौथे दिन कन्या को स्नान करा कर उसे पीले रंग की साड़ी पहनायी जाती थी; गोबर–माटी से लिपी भूमि पर "ऋतु अरिपन" बना कर उस पर कन्या को बैठाया जाता था; गोसाओनी के गीत गाए जाते थे; उसके आँचल में लाल रंग से रंगे धान, दूब और हल्दी रखे जाते थे। इसके बाद गीत–गायिनि महिलाएँ गाते हुए कन्या के साथ बाँस के बीट तक जाती थीं जहाँ वह अपने आँचल का दूब–धान बाँस की जड़ों में सौंप देती थी। इस विधि के बाद महिलाएँ गीत गाते हुए कन्या को साथ लेकर आँगन वापस आती थी जहाँ पुनः अक्षत और दुर्वादलों से उसका अभिषेक किया जाता था। माना जाता था कि उस दिन से कन्या ऊर्वरता को प्राप्त कर चुकी है और उसके लिए योग्य वर की खोज प्रारम्भ हो जाती थी।

ऋतु–अरिपन के दो भद प्रयोग में थे – सामान्य और उपचारीय। सामान्य ऋतु–अरिपन में चार चक्र होते थे –– केन्द्रीय प्रथम चक्र में सबिन्दु त्रिकोण, जो महात्रिपुर सुन्दरी का प्रतीक है। दूसरे चक्र में चार कमलदल जिसमें महादेवी अम्बिका, वाग्भवा, दुर्गा और श्री का वास कहा गया है। तीसरे चक्र में अष्टयोगिनी –– अनंगकुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना, मदनातुरा, अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगकुशा और अनंगमालिनी का वास कहा गया है; चौथे चक्र में सोलह कमलदल जिसमें प्रेम, ऊर्वराशक्ति और सृजनतत्व के देवता, चन्द्रमा की सोलह कलाएँ स्थापित कही गयी हैं –– अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्सना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा और पूर्णामृता। इस यन्त्र की केन्द्रीय देवता भगवती त्रिपुरा हैं और शेष तीनों चक्र का शक्ति–योग (4+8+16=28) अट्ठाइस होता है जो स्त्रियों के रजमास का द्योतक है।

ऋतु–अरिपन का दूसरा रूप उपचारीय है, जिसका उपयोग उस समय किया जाता था जब कुमारी कन्या को किसी स्वास्थ्यगत कारणवश ऋतुमती होने में काफी विलम्ब हो जाता था। इस यन्त्र के मात्र तीन चक्र होते थे; केन्द्रीय भाग में सबिन्दु त्रिकोण, उसको घेरता हुआ पुरैन और तीसरे चक्र में चन्द्रमा की सोलह कला दर्शानेवाले सोलह कमलदल। लोगों में विश्वास था कि इस यन्त्र का पूजन करने से कन्या ऋतुमती हो जाती थी।



बाँस–गर्भचक्र (ऋतु अरिपन)



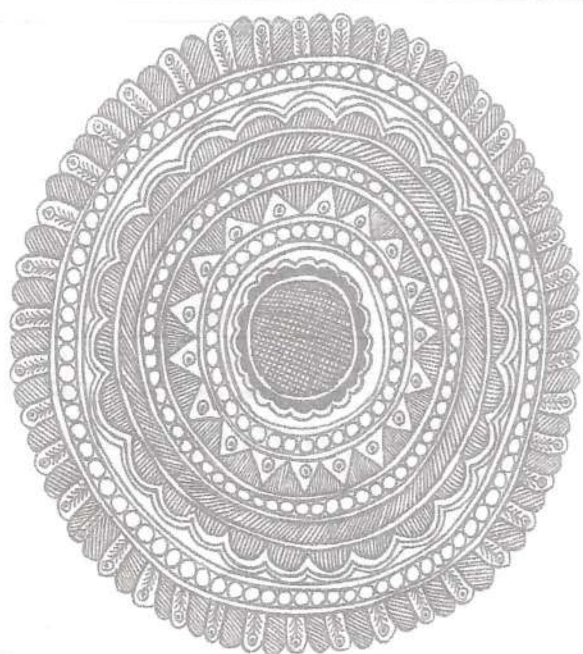
गर्भचक्र और गर्भस्थापन यंत्र

ऋतु अरिपन

सन 1955–'60 ईस्वी तक मिथिला समाज में जब पहली बार कोई स्त्रो गर्भवती होती थी तब गर्भकाल में उसे हरेक प्रकार के अनिष्ट से बचाने के लिए, किसी शुभ दिन में, भूमि पर **''गर्भचक''** बनाया जाता था। इस कार्य के लिए महल्ले की सभी स्त्रियों को हँकार देकर बुलाया जाता था, गोसाओनी के गीत गाए जाते थे, सोहर गीत गाए जाते थे, हँकार पुरने आयी स्त्रियों को तेल–सिन्दूर दिया जाता था और नियम–निष्ठा के साथ उस गर्भयन्त्र का धूप–दीप से आराधना की जाती थी। यह पूजा अगले तीन या पाँच सप्ताह तक दुहरायी जाती थी। लोगों का विश्वास था कि इस पूजा से गर्भिनी को किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं होता।

इस प्रसंग से सम्बंधित दूसरा यन्त्र **''गर्भस्थापन यन्त्र''** है। यह यन्त्र उस स्त्रो के लिए निर्दिष्ट था जिसका गर्भ किसी कारण से नहीं ठहरता था। ऐसी परिस्थिति में, दीवाल पर गोबर से या कागज पर हरे रंग से लिखा 'गर्भस्थापन यन्त्र' बना कर उसका पूजन करने का विधान था। इस यन्त्र का मिश्रित रूप है; गर्भचक्र और कोबर का मध्यतन, बाँस। कोबर अरिपन में जो बाँस होता है उसे अर्धनारीश्वर शिव के पुरुष भाग का लिंग, इतरलिंग कहा गया है। इस इतरलिंग में सात गर्भचक्र बनाए जाते ह जो सप्तमातृका को समर्पित होते हैं। 'गर्भस्थापन यन्त्र' के केन्द्रीय चक्र के वाह्य भाग पर चौंसठ दल हाते हैं जिन पर चौंसठ योगिनियों का वास होता है। इन योगिनियों के नाम इस प्रकार हैं –– अनंगा, अनंगमदना, अनंगमेखला, अनंगकुसुमा, विश्वरूपा, सुरभयंकरी, अक्षोभ्या, सत्यवादिनी, विशालाक्षी, समृद्धि, वृद्धि, श्रद्धा, स्वाहा, भिक्षा, माया, शुचिवक्त्रा, सावित्रो, वज्ररूपा, वरदा, वागीशी, पिंगाक्षी, वसुन्धरा, त्रिलोकधात्री, गायत्री, त्रिदशेश्वरी, सुर्पयी, बहुरूपा, चण्डमाता, अच्युतप्रिया, विमला, अरुणा, अनन्ता, अरोगी, प्रकृति, सृष्टि, स्थिति, संह्रति, संध्या, मती, सती, हंसी, मर्दिका, परादेवता, भगवती, देवकी, कमलासना, त्रिमुखी, सप्तमुखी, सुरविमर्दिनी, असुरविमर्दिनी, लम्बोष्ठी, उर्ध्वकेसी, बहुशीर्षा, वृकोदरी, रथरेशी, शशिरेखा, गगनवेगा, पवनवेगा, भुवनपाला , मदनातुरा (चार नाम अप्राप्य)। इतरलिंग (बाँस) के शीष को पुष्पित दिखलाया जाता है जो सिद्धि–फल का द्योतक है।

पुरइन–यन्त्र



समस्त भारतीय तन्त्र साहित्य में पुरइन का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तन्त्र साहित्य में शिव और शक्ति के सामरस्य को ''कौल'' और ऐसे कुल से सम्बंधित भगवतो को 'कौलिनी' कहा गया है। तन्त्र–साहित्य म योग–सिद्धि और योगानन्द के चरमोत्कर्ष को ''सहस्रदल कमल'' और उससे भी ऊपर ''विंशतिसहस्रदल कमल'' (बीस हजार दलवाला कमल) की भावना की गयी है। उक्त ''बीस हजार दलवाले कमल'' की केन्द्रीय कर्णिका में ''मणिपद्म'' की स्थिति कही गयी है और मणिपद्म में जिस देवी का वास होता है उसे 'कोलिनी' कहा गया है। मिथिलाचित्र–परम्परा में पुरइन को ''कुल–बल्लभा'' और ''भव–कौलिनी'' कहा गया है। कहा गया है कि जब महाप्रलय होता है, उस जलराशि में भी पुरइन डूब कर नष्ट नहीं होता है बल्कि ऊर्म्मियों पर तैरता ही रहता है जिस पर पुनः सष्टिक्रिया प्रारंभ होती है। शरीर–क्रिया–विज्ञान में, प्रसवकाल में शिशु के संग बाहर आनेवाला रक्त–मांस–जल की झिल्ली को अंगरेजी में placenta, हिन्दी में पुरैन, संस्कृत में जरायु और वनस्पति शास्त्र में ''बीजाण्डासन'' कहा गया है।

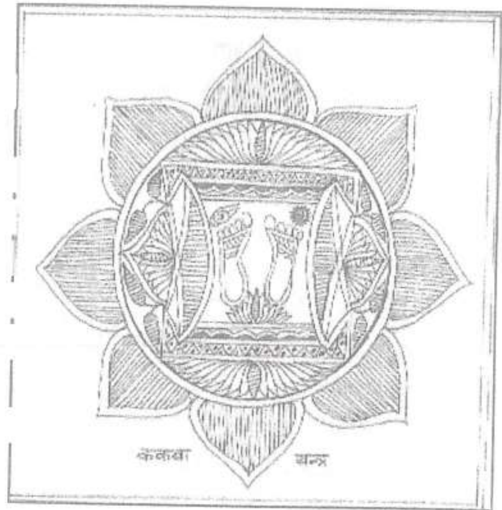
प्रसवकाल में जो प्राणान्तक कष्ट होता है उसका अनुभव तो मात्र एक स्त्रो ही कर सकती है जो उस क्षण से कभी गुजरी हा, किन्तु इस कष्ट से प्रसूता को त्राण दिलाने के लिए प्रागैतिहासिक और वैदिक काल से ही ऋषियों ने प्रयास किया है। अथर्ववेद के सूक्त 11 में इससे सम्बंधित एक मन्त्र इस प्रकार है ––

''ह पूषादेव! आपकी कृपा से यह स्त्रो सुख पूर्वक प्रसव करे और कष्ट से बचे। प्रसव काल में इसके अंग पीड़ित नहीं हों। ... ... आप गर्भ को पुरइन से मुक्त करें। सुख पूर्वक प्रसव हो इसके लिए मैं भी गर्भ का मार्ग खोल रहा हूँ। हे प्रसवकाल में सहायक देवताओं, आप सभी प्रसन्न होकर गर्भिनी के अंगों को ढीला करें। सूति मारुति देव, आप गर्भ के मुख को अधोमुखी करते हुए उसे परित करें। हे प्रसव करनेवाली स्त्रो, इस पुरैन से तुम पुष्ट नहीं हो सकती हो। इस पुरैन का सम्बंध मज्जा, मांस, चर्वी आदि किसी पदार्थ से नहीं होता है। यह तो बाहर फेकने योग्य वस्तु है। ... ... हे गर्भवती स्त्रो, मैं तुम्हारे गर्भ के मुँह को और फैलाता हूँ , प्रतिबन्धक नाड़ियों को भी ढीला करता हूँ जिससे बच्चा बाहर आ सके। मैं माता से बच्चा को पृथक करता हूँ। इसके बाद यह पुरइन बाहर आ गिरे।''

मिथिला चित्र–परम्परा में भो ऐसे कठिन समय में गर्भवती स्त्रो को सुखद प्रसव कराने के लिए या उस कष्ट को कम करने के लिए पुरइन–यन्त्र का अभिचार करते इस लेखक ने अपने बाल्यकाल में देखा है। उन दिनों ग्रामीण समाज में किसी प्रकार की चिकित्सकीय सुविधा का नितान्त अभाव था। अधिकांश लोग मात्र तन्त्र–मन्त्र और उपलब्ध जड़ी–बूटी पर निर्भर थे। प्रसव काल में जब किसी प्रसूता का कष्ट असाध्य हो जाता था तब सुखद प्रसव के लिए भूमि पर पिठार से पुरइन–यन्त्र बनाया जाता था। इसके लिए सामान्य पुरइन का आरेख बना कर उस पर आठ कमलदल लगाया जाता था। अब वह ''पुरैन यन्त्र'' बन जाता था। तान्त्रिक मतानुसार, इन आठ दलों में अष्टमातृका –– ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी का वास माना गया है।

मृत्युंजय यन्त्र

प्रायः सभी तन्त्रों में कुछ ऐसे यन्त्र उपलब्ध होते हैं जिनका उपयोग प्राणान्तक स्थिति में किया जाता है। मिथिला चित्र–तन्त्र में 'मृत्युंजय यन्त्र' ऐसा ही यन्त्र है। यह वस्तुतः विष्णु–यन्त्र है, ककबा, जो सामान्यतया अष्टदल अरिपन के केन्द्र में बनाया जाता है। प्राचीन परम्परा में, जब कोई व्यक्ति ऐसी कठिन परिस्थिति में आ जाता था जब उसका जीवन बचना कठिन होता था, तब उसकी छाती पर कनिष्ठिका उंगली के द्वारा, चन्दन लेप से यह यन्त्र बनाया जाता था। इस यन्त्र के प्रयोग के दो उद्देश्य थे, प्राणरक्षा और मृत्यु के बाद विष्णु–धाम की प्राप्ति।

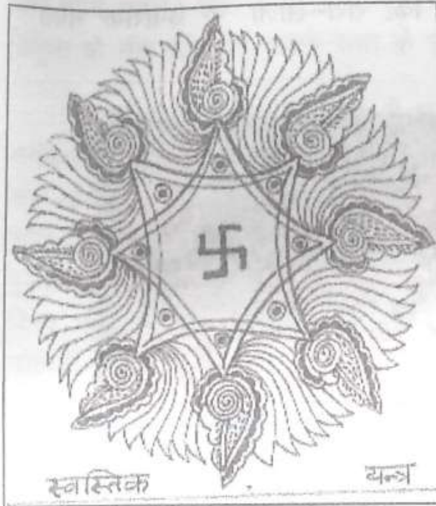


स्वस्तिक–यन्त्र

स्वस्तिक प्रतीक का प्राचीनतम साक्ष्य सिन्धु घाटी–संस्कृति में प्राप्त होता है। इतिहास के उस काल–खण्ड में स्वस्तिक का प्रयोग किस रूप में होता था यह जानना तो कठिन है किन्तु मिथिला चित्र–तन्त्र में इस यन्त्र का प्रयोग दो भाव से होता है। एक भाव से स्वस्तिक को 'शिवमन्त्र', 'शिवरहस्य' अथवा पैंसठवें तन्त्र से सम्बंधित माना गया है। इस रूप में देश–काल–पात्र पर बाहरी दुष्ट शक्ति या दैवी संकट से बचने के लिए

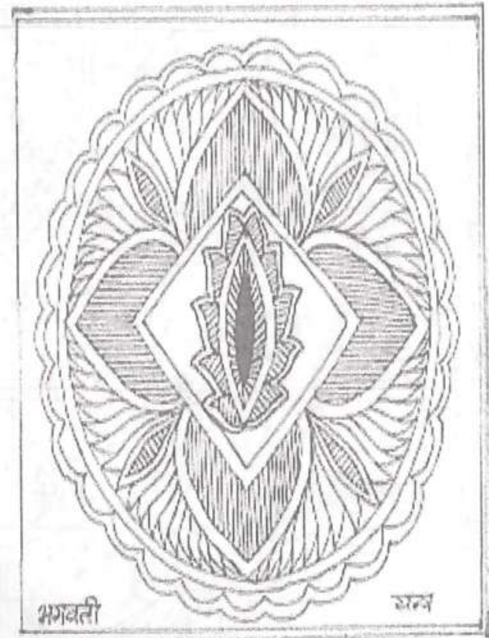
इस यन्त्र को बना कर (मिथिला में प्रचलित) एक मन्त्र पढ़ा जाता है –– " जल बान्हू थल बान्हू बान्हू अपन काया, सबा हाथ धरती बान्हू शिव शंकर के माया, दोहाइ गौरा पारबती।" एक अन्य मतानुसार, स्वस्तिक को श्रीगणेश और उनकी दोनों पत्नी, सिद्धि और बुद्धि का समन्वित रूप माना गया है। इसके अतिरिक्त, शंख युक्त स्वस्तिक को "लक्ष्मी–गणेश" का रूप और समृद्धि का द्वार खोलनेवाला 'सौभाग्य स्वस्तिका' कहा गया है।

अष्टकोण–यन्त्रगृह के मध्य में स्थित स्वस्तिक "योग–योगिनी" (शिवपार्वती) का द्योतक है। इस यन्त्र के आठों कोण पर स्थापित शंख में आठ भैरवियों का वास कहा गया है –– सिद्ध भैरवी, त्रिपुरा भैरवी, चैतन्य भैरवी, भुवनेश्वरी भैरवी, कमलेश्वरी भैरवी, संपदाप्रद भैरवी, कौलेश्वरी भैरवी और षट्कुटा भैरवी। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक दुर्भीक्ष, जल–प्रलय, हैजा–प्लेग जैसे महामारी के सामूहिक संकट से उद्धार के लिए अथवा सामूहिक कल्याण के लिए 'स्वस्तिक यन्त्र' की उपासना की जाती थी, किन्तु स्वस्तिक का प्रयोग अद्यतन समस्त भारतीय समाज में सामाजिक–धार्मिक प्रयोजनों से जुड़ा है। इस यन्त्र को सद्यः फलदायी कहा गया है। इसका प्रयोग मन्त्र रूप में और प्रतीक रूप में शुभ–शान्ति की वृद्धि के लिए किया जाता है। मान्यता है कि स्वस्तिक मन्त्र और यन्त्र ह्रदय के साथ मन को मिलानेवाला साधन है। गृह–निर्माण या प्रवेश के अवसर पर, वर–बधू के परिणय–काल में, खेत में बीज डालते समय, यात्रा आरम्भ करते समय, व्यापार में, सन्तानोत्पत्ति काल में, विभिन्न षोडस संस्कारों में और विशेष रूप से विद्यारम्भ के समय में स्वस्तिक यन्त्र का प्रयोग भारत के अनेक भागों में और मिथिला में परम्परागत है।



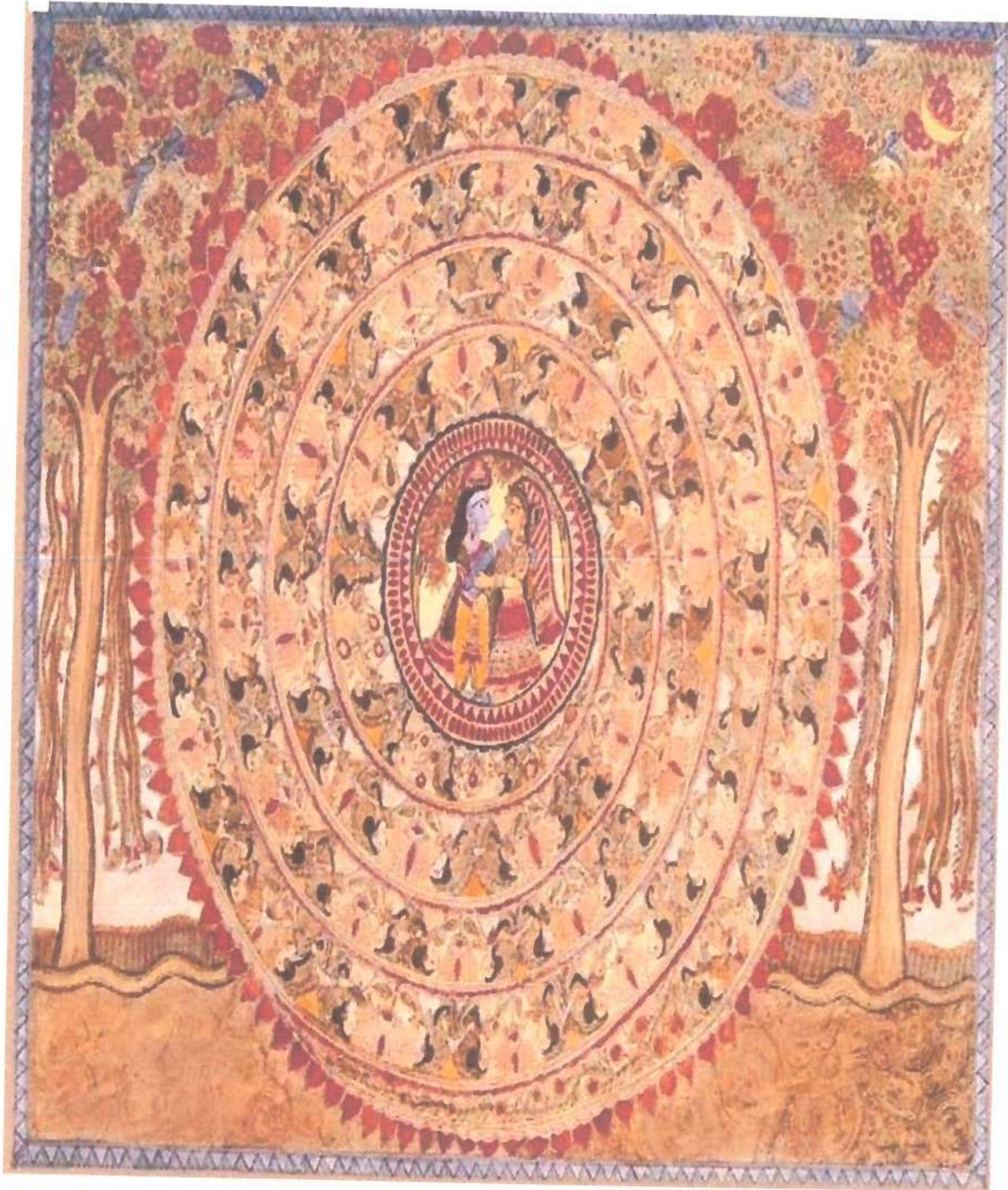
भगवती यन्त्र

भगवती–यन्त्र का ऊर्ध्वमुखी समचौरस यन्त्र–गृह, जो एक वृत्त में स्थापित रहता है, उस चतुरस्र यन्त्र के मध्य में योनि का प्रतीक रखा जाता है जिसके चारों कोण के शीर्ष को आवृत किए चार दलों का कमल होता है। इन चार कमलदलों पर दशमहाविद्या की भगवती मातंगी के चार रूप –– उच्छिष्ट मातंगी, राज मातंगी, वैश्य मातंगी और कर्ण मातंगी अवस्थित रहते ह। मातंगी का नामान्तर 'सुमुखी' है। मातंगी को 'महापिशाचिनी' भी कहा गया है। ये सभी दक्षिण और पश्चिम अन्वय की देवता हैं। 'ब्रह्मयामल' के अनुसार, मातंग मुनि ने दीर्घकालीन तपस्या द्वारा देवी को कन्या रूप में प्राप्त किया था। यह भी प्रसिद्ध है कि मातंग ऋषि घनघोर वन में तपस्या कर रहे थे। उन्हें तंग करने के लिए क्रूर विभूतियाँ उपद्रव करती थीं। उन क्रूर शक्तियों का दमन करने के लिए उस स्थान पर त्रिपुरसुन्दरी के नेत्र से एक तेज निकला। उस तेज से श्यामल वर्ण की राजमातंगी प्रकट हुई। मातंगी के भैरव का नाम सदाशिव भी है।



रास

'**रास**' का स्वरूप ज्यामितिक नहीं होने के कारण यद्यपि कि बहुत लोग इसे अरिपन की श्रेणी में नहीं रखते हैं किन्तु रास के प्राचीन रूप में वृत्तरूपक स्थापना के कारण वस्तुतः यह भी अरिपन ही है। ''रास'' का प्रथम उल्लेख भागवत पुराण के पाँचवें अध्याय में हुआ है जिसे ''रास पंचाध्यायी'' कहा जाता है। भागवत पुराण के इन पाँचों अध्यायों को इस पुराण के प्राण कहा गया है, क्योंकि इन अध्यायों में श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं के माध्यम से प्रेम और समर्पण की प्रतिष्ठा की गयी है। माना गया है कि 'रास–लीला' के उपासक भक्त कामजय की सिद्धि प्राप्त करते हैं।



''मिथिला के जन–जीवन में रास की परंपरा बहुत पुरानी है जिसमें राधा–कृष्ण की प्रेमलीला की सरस अभिव्यक्ति पायी जाती है। राजेश्वर झा द्वारा रचित 'पूर्वांचलक वैष्णव साहित्य' में थारु जाति के मध्य प्रचलित रास का एक गीत 'रास गोविंद गोपाल' **'रास'** का दृश्यावलोकन कराता है ––

ब्रह्मा नाचे बिस्नु नाचे नाचे औरे महेस। जसोधा के पुत्र वोहो जोड़ी नाचे नाचे नंदके लाल।। सरग नाचे पताल नाचे नाचे इनर कविलास। चान सुरुज ओहो जोड़ी नाचे नाचे तिरपर लोक।। तौला बाजे सरंगी बाजे और बाजे मदंग। हरी के मुख मे मुरली बाजे राधा के लये संग।। आपहु गाबे आपु बजाबे आपु लगाबत रंग। जमुना के नीर तीर धेनु चराबे राधा के लये संग।।''

शारदीय पूर्णिमा की रात में भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों के संग रासक्रीड़ा करने की इच्छा से अपनी मनोहारी बाँसुरी बजायी। बाँसुरी की मोहक ध्वनि को सुनते ही गोपियों ने अपने समस्त गृहकार्य त्याग कर रास–प्रदेश में, कृष्ण के निकट चली आयीं। कृष्ण ने पहले तो गोपियों को समझा–बुझा कर उन्हें अपने घर लौट जाने को प्रेरित किया, किन्तु जब वे बिना रास किए घर लौटने के लिए तैयार नहीं हुईं तब श्रीकृष्ण ने पुलकित मन से, मण्डलाकार होकर, उन सबों के साथ रासलीला प्रारम्भ की। इस रासलीला को वैष्णव भक्त दिव्य क्रीड़ा मानते हुए इसका आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं। श्रीकृष्ण चिदानन्दघन दिव्य शरीर हैं और गोपियाँ भगवान की अन्तरंग शक्ति हैं, जिनके सग उनका दिव्य मिलन ही रास है।

हिन्दी के भक्त कवियों ने भी भागवत तत्व के आधार पर अपनी रचनाओं में रासलीला को स्थान दिया है। मिथिला के महान कवि विद्यापति ने वसन्त ऋतु में राधा और गोपियों के संग गीत–नृत्य करते श्रीकृष्ण की रासलीला में विविध वाद्य यन्त्रों को ध्वनि का अद्भुत वर्णन किया है ––

बाजति द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया।

नटति कलावति माति स्याम संग, कर करताल प्रबन्धक धनिया।।

डगमग डम्फ द्रिमिक द्रिमि मादल, रुनु झुनु मंजिर बोल।

किंकिनि रनरनि बलया कनकनि, निधुबने रास तरल उतरोल।।

बीन रबाब मुरज स्वरमंडल , स रि ग म प ध नि स बहुविध भाव।

घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि, चंचल स्वरमंडल करु राव।

स्रमभरे गलित लुलित कवरीजुत, मालतिमाल बिथारल मोति ।

समय वसन्त रास रस–वर्णन, विद्यापति मति छोभित होति।

रासलीलाकर्ता रसेश्वर श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, राधा और गोपियाँ जीवात्मा हैं। रासलीला परमात्मा और जीवात्मा का सम्मिलन है। गोलोक में श्रीकृष्ण, राधा और गोपियों के साथ रास में नित्य निमग्न रहते हैं। यह लीला निर्वाध रुप से सदैव चलती रहती है, शाश्वत लीला। यही नित्यलीला सृष्टि की निरन्तरता है। गोलोक की दूसरी संज्ञा अक्षरधाम है। भौतिक–लौकिक वृन्दावन और कुछ नहीं अपितु श्रीकृष्ण का स्वधाम ही है –– गोकुल। सहस्रदल कमल वृन्दावन है; राधा कुण्डलिनी शक्ति हैं; गोपी–समूह मनोवृत्ति है और श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। बाँसुरी के स्वर ही अनहद नाद है। जब कुण्डलिनी शक्ति हृदय में अनाहत चक्र का भेदन करके स्थित होने लगती है तब साधक योगी त्रिकालज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगते हैं। अन्ततः जब शक्ति का परमात्मा के संग सहस्रदल कमल में संयोग हो जाता है तब योगी को ब्रह्म तथा ब्रह्ममय जगत का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह परमानन्द में डूब जाता है। परमसत्ता के साथ यही निमग्नता रासलीला है।

श्रीमदभगवदगीता के ''गुणत्रयविभागयोग'' अध्याय में अर्जुन को शिक्षा देने के क्रम में श्रीकृष्ण कहते हैं ––

''मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।'' ''हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्म नामक प्रकृति सभी प्राणियों की योनि है और मैं उसमें चेतनरूप जीवों का गर्भाधान करता हूँ। इस जड़–चेतन के संयोग से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है।''

मिथिला चित्र–परम्परा में रास की जो परिकल्पना की गयी है वह उपर्युक्त धारणा की ही पुष्टि करती है। शाक्त तन्त्रों में, शक्तिरूप में, तत्व की क्रिया को 'कला' कहा गया है। उदाहरणतः, सृष्टि ब्रह्मा की कला है, पालन विष्णु की कला है और मृत्यु रुद्र की कला है। शाक्त तन्त्र में चौरानबे कलाओं का उल्लेख किया गया है। जब ये सभी कलाएँ कृष्णप्रिया गोपबाला के रूप में कृष्णमय हो जाती हैं तब सभी तत्वों की कला कृष्ण के साथ संयुक्त हो जाती हैं और उस महाआयोजन को **'रास'** कहा जाता है। मिथिला चित्रकला में रास अत्यन्त लोकप्रिय रचना है जिसमें मण्डलाकार स्थित चौरानबे गोपियाँ कृष्ण के संग रास–निमग्न दिखलायी जाती हैं। शास्त्रों में वर्णित भिन्न–भिन्न तत्वों की कला इस प्रकार बतलायी गयी हैं ––

1. सदाशिव की 19 कलाएँ –– निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञानामृता, अमृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, मूर्लाविद्यामन्त्रकला, महामन्त्रकला और ज्योतिष्कला ;

2. ईश्वर की 6 कलाएँ –– पीता, श्वेता, नित्या, अरुणा, असिता और अनन्ता ;

3. रुद्र की 11 कलाएँ –– तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी, अमाया और मृत्यु ;

4. विष्णु की 10 कलाएँ –– जडा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति और दीक्षा ;

5. ब्रह्मा की 10 कलाएँ –– सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति और सिद्धि;

6. अग्नि की 10 कलाएँ –– धूम्रार्ची, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिंगिनी, सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यवहा और कव्यवहा ;

7. सूर्य की 12 कलाएँ –– तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरिचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा ;

8. चन्द्रमा की 16 कलाएँ ––अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्सना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा और पूर्णामृता।

श्री मिथिलाक्षर यन्त्र

विश्व–सभ्यता और वाङ्मय के वाहक 'लिपि' का जन्म कब हुआ और किस तरह विश्व के एक भाग से चल कर यह दूसरे भाग तक रूपान्तरित होती रही, यह कहानी बहुत आश्चर्यजनक है। भारत की ब्राह्मी लिपि, जिससे सभी भारतीय लिपियों का जन्म हुआ है, किस युग में सर्वप्रथम प्रकट हुई, इस विषय में भी विद्वज्जन एकमत नहीं हैं, किन्तु मूल ब्राह्मी लिपि से अन्य भारतीय लिपियों का आविर्भाव ईसापूर्व सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ, इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उत्तरी सेमेटिक वणमाला, जिससे फोएनीशियन, हेब्रू, मोबाइट, ग्रीक, लैटिन, रोमन आदि लिपियों का विकास हआ है, उसका रूपान्तरण ईसापूर्व दशम शताब्दी में किसी समय हुआ जब आरमाइक भाषा उत्तरी मेसापोटामिया और सीरिया के राज्यों में बोली जाती थी। कहा जाता है कि आरमाइक लिपि ब्राह्मी लिपि का ही आद्य रूप है किन्तु अनेक विद्वान ब्राह्मी लिपि का अवतरण सिन्धु घाटी–लिपि से मानते हैं। यहाँ यह जानना प्रासंगिक है कि भारतीय कला–परम्परा में जितने भी प्रतीक या ज्यामितिक बीज–चिन्ह प्रयुक्त होते हैं, उनका बहुलांश सिन्धुघाटी–कला से आये हैं।

ईस्वीपूर्व पाँचवीं शताब्दी में, उत्तर–पश्चिमी भारत में, ब्राह्मी से खरोष्ठी लिपि का जन्म हुआ। खरोष्ठी लिपि की लिखिया बाँए से दाहिनी ओर होती थी। आगे चल कर ब्राह्मी से प्रारम्भिक और परवत्ती मौर्य तथा शुंगलिपि, कुशान लिपि का जन्म ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी में हुआ। उस रूप से चौथी से छठी शताब्दी तक गुप्तलिपि विकसित होती रही जिससे अन्य प्रमुख भारतीय लिपियाँ बनीं। गुप्त लिपि से, छठी शताब्दी में, सिद्धमातृका लिपि का आविर्भाव हुआ। देवनागरी इसी सिद्धमातृका की सन्तति है, जिसका प्रयोग संस्कृत वर्णमाला के रूप में हुआ। देवनागरी से बारहवीं शताब्दी में बंगला, मिथिलाक्षर, कैथी, प्रारंभिक नेवाड़ी (नेपाली), ओड़िआ, मणिपुरी, असमी और गुजराती लिपि का विकास हुआ।

मिथिला में प्रथम हिन्दू राज्य की स्थापना एगारहवीं शताब्दी के अन्तिम प्रहर, 1097 ईस्वी में, कर्णाटवंशी नान्यदेव द्वारा हुआ और तभी से मिथिला में सुव्यवस्थित राज्य–प्रणाली प्रयोग में आयी। सत्तासीन होने के बाद नान्यदेव ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति राज्य के आधार को सुदृढ़ करने में लगाया जिसके परिणामस्वरूप कर्णाट राजवंश मिथिला में 228 वर्षों तक और नेपाल में लगभग तीन सौ वर्षों तक शासनारूढ़ रहा। मिथिला के ''कर्ण–कायस्थ'' वही समुदाय हैं जो नान्यदेव के संग या उनके समय में, कर्णाटक से चल कर, कई खेपों में, मिथिला आये और अपने मूलस्थान के नाम पर, ''कर्ण–कायस्थ'' जाति–नाम से संगठित हुए। नान्यदेव की मृत्यु के बाद उनका पुत्र गंगदेव सन् 1147 ईस्वी में राजगद्दी पर आसीन हुए। गगंदेव क शासन–काल में अनेकों कालजयी पद्धति का जन्म हुआ जिसने भावी भारत को राजस्व–व्यवस्था का ठोस रूप और सुव्यवस्थित अभिलेख प्रणाली दी। गंगदेव ने सम्पूर्ण राज्य–क्षेत्र को 'परगना' या राजस्व–जिलों में विभाजित किया। परगना का मुख्य अधिकारी 'चौधरी' होता था जिसके अधिकार और कर्त्तव्य आधुनिक समय के जिला–कलेक्टर की तरह होता था। गंगदेव सर्वप्रथम शासक था जिसने ''ग्राम–पंचायत'' की स्थापना की। ग्राम–पंचायत भूमि–सम्बंधी एवं अन्य विवादों को स्थानीय स्तर पर निपटाता था। इस काल में जो दूसरा महत्वपूर्ण विभाग शुरू हुआ, वह था धार्मिक आर सांस्कृतिक मामलों का विभाग, धर्माकरणिक विभाग। इस विभाग के प्रथम मन्त्रो वर्द्धमान उपाध्याय थे। राजस्व और धर्माकरणिक विभागों के संग दो नयी लिपियों का जन्म हुआ ––– मिथिलाक्षर और कैथी। उस समय से राजस्व विभाग के सम्पूर्ण अभिलेख 'कैथी' लिपि में लिख जाने लगे जो वर्त्तमान समय में कुछ दशक पूर्व तक प्रचलन में रहे हैं। आज की तिथि में स्थानीय सरकारी अभिलेखागार कैथी लिपि में लिखे राजस्व अभिलेखों का लिप्यान्तरण करबा रहा है। सन् 1960–65 तक सरकारी राजस्व विभाग के तमाम अभिलेख, जैसे कि जमीन का केबाला, सर्वे के खतियान, खेसरा रजिस्टर आदि कैथी लिपि में ही लिखे जाते थे। प्रारम्भिक काल में इस लिपि के मुख्य प्रयोगकर्त्ता कायस्थ ही थे जिस कारण इसका नाम ''कैथी'' लिपि पड़ा। आगे चल कर सभी जाति के लोगों ने इसे काम–काज के लिए सीखा और धारण किया।

गंगदेव न जिस धर्माकरणिक विभाग की स्थापना की उसका प्रमुख कार्य था धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों पर विचार करना और धार्मिक दिशा–निर्देश करना। इस क्रम में धार्मिक साहित्यों की रचना भी इसी विभाग की निगरानी में होती थी। ये सभी कार्य मिथिलाक्षर में होते थे। उन दिनों बंगाल में सेनवंशियों का

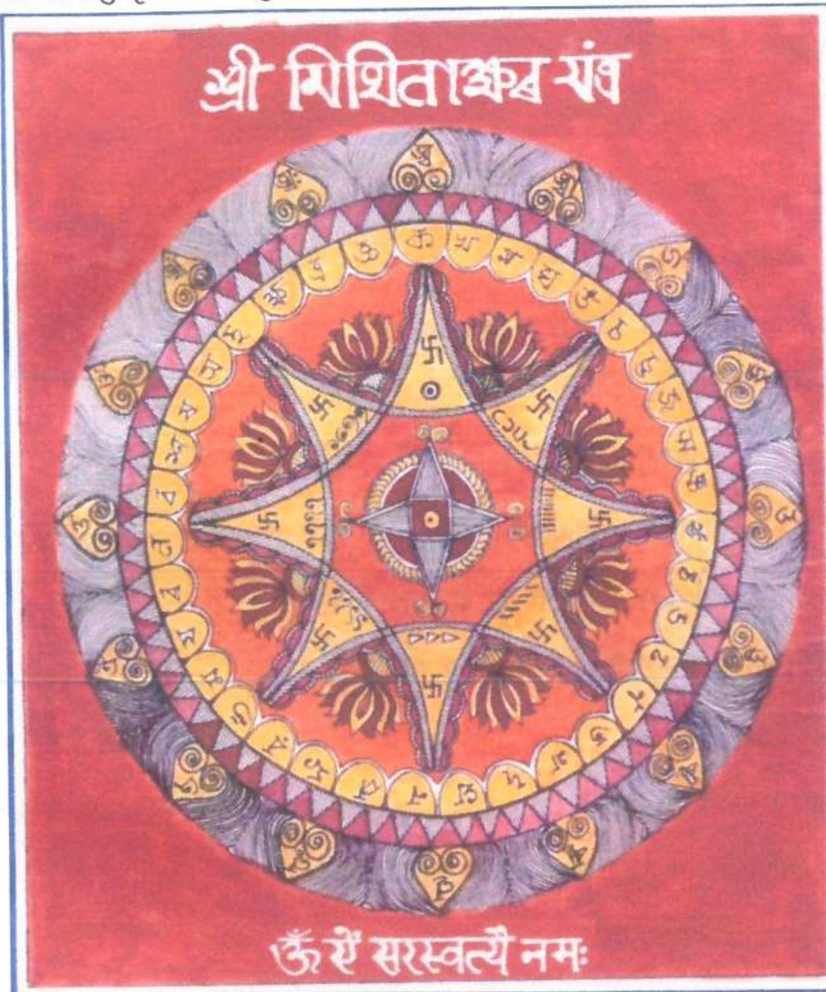
शासन था। सेनवंशी भी कर्णाटक के ही मूलवासी थे। इस प्रकार मिथिला के कर्णाटवंशी और बंगाल के सेनवंशी एक क्षेत्र से आने के कारण पारस्परिक तालमेल के साथ अपने राज्य–क्षेत्र के सुदृढ़ीकरण में लगे थे। उनके बीच आपसी तालमेल का एक और कारण भी था। कहा जाता है कि दोनों राजवंश सम्पूर्ण गौड़ प्रदेश पर आधिपत्य करना चाहते थे। इस तालमेल के कारण दोनों राजवंशों के मध्य कई तरह के राजनीतिक और सांस्कृतिक साझेदारी थी। इस सम्बंध के कारण ही मिथिला में स्वीकृत मिथिलाक्षर वर्णमाला, किंचित लिखावटी रूपान्तर के साथ, बंगाल में "बंगला लिपि" के नाम से प्रचलित हुई। मिथिला में मिथिलाक्षर या तिरहुता का प्रयोग मुख्यतः ब्राह्मण और कायस्थों के बीच ही सीमित रहा जबकि बंगाल में यह लिपि सार्वजनिक साक्षरता का माध्यम बनी और दिनानुदिन पल्लवित होती रही। कर्ण–गोष्ठी में कहीं–कहीं आज भी मिथिलाक्षर में ही वैवाहिक निर्णय आदि लिखे जाते हैं किन्तु प्रकट रूप से अब इस लिपि का सार्वजनिक जीवन से सम्बंध नहीं के बराबर है। यद्यपि कि आज भी कर्ण–गोष्ठी में वैवाहिक सम्बंध (सिद्धान्त का असौजन और निर्णय) पंजीकार मिथिलाक्षर में ही लिख कर देते हैं किन्तु आज मिथिलाक्षर अपने ही लोगों के बीच में अपरिचित हो गया है। इस समृद्ध लिपि के विलोपन के साथ विद्वान–पण्डितों के हस्तलिखित ग्रन्थ–भण्डार, जहाँ कहीं बचे हुए हैं, आज की पीढ़ी के लिए अपठनीय है जबकि उसीकी सहोदरा बंगला लिपि आज विश्व की एक सुपरिचित लिपि बनी हुई है।

विश्व में जितनी भी लिपियाँ हैं वे कुछ बीज–चिन्हों के मेल से बनी हुई हैं। मिथिलाक्षर का निर्माण बिन्दु, वृत्त, अर्द्धवृत्त, त्रिकोण, लम्ब, स्वस्तिक, क्षैतिज रेखा, गणेशजी के अंकुश और सूँढ़ से हुआ है। ये सभी बीज–चिन्ह किसी लिपि, आकार, यन्त्र या अरिपन और समस्त चित्रादि की रचना के मूल कारक तत्व होते हैं। ये सभी चिन्ह दर्शन औऱ अध्यात्म–ज्ञान की विपुल अर्थवत्ता के भण्डार होते हैं। तन्त्र, गणित, ज्यातिष, विज्ञान की समस्त शाखाओं, साहित्य और कला के मूल संकेत–स्वरूप इन चिन्हों स निर्मित अक्षरों को भारतीय वाङमय में तान्त्रिक भाव से, मातृका देवी के शरीर के विभिन्न अंग के रूप में देखा गया है। प्रसंगवश यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध तन्त्र–लेखक जॉन वुडरॉफ ने भी अपनी पुस्तक, Garland of Letters में उल्लेख किया है कि मिथिलाक्षर या तिरहुता की उत्पत्ति का वर्णन 'कामधेनु तन्त्र' और 'वर्णोद्धार तन्त्र' में हुआ है। लोक–विश्वास है कि जो कोई व्यक्ति अक्षरों की साधना करते हैं वे एक तरह से मातृका देवी की तान्त्रिक साधना ही करते हैं। कर्ण–गोष्ठी की महिलाएँ परम्परागत रूप से अनेक प्रकार के अरिपन–यन्त्रों की लिखिया करती थीं। यही कारण है कि कर्ण–गोष्ठी में आदि काल से शत–प्रतिशत साक्षरता रही है। इस लेखक ने अपने बाल्यकाल में अनेक कायस्थ–महिलाओं को मिथिलाक्षर के अतिरिक्त देवनागरी और कैथी लिपि में लिखते–पढ़ते देखा है।

जिस युग में बहुत कम स्त्रियाँ साक्षर थीं, उस युग में सभी कायस्थ–स्त्रियाँ लिखने–पढ़ने में सक्षम थीं, यह कैसे सम्भव हुआ ? बहुत आगे चल कर इस लेखक को अनुभव हुआ कि इस रहस्य के पीछे उनका अरिपन–अभ्यास ही था। कभी उँगलियों से भूमि पर अरिपन की लिखिया, कभी चुटकी म रंग–चूर्ण ले कर भूमि पर यन्त्र की लिखिया, भित्ति पर पिहुआ से विविध चित्रों की लिखिया और होल्डर कलम से कागज पर कोबर–कमलदह जैसे अरिपनों की लिखिया। कितने प्रकार के चित्रांकन, कितने प्रकार से चिन्हों, ज्यामितिक प्रतीकों का बारम्बार अंकन! उस अभ्यास ने स्त्रियों की उँगलियों में लेखकीय ऊर्जा और लोच भरा होगा। यही कारण है कि उन्हें तत्कालीन समाज में प्रचलित सभी तरह की लिपियों का ज्ञान था। किमाश्चर्यम् ! श्री मिथिलाक्षर यन्त्र का मूल ढाँचा अष्टकोण से बना है जो अष्टमातृका का आवास माना गया है। इस यन्त्र के केन्द्र में एक चौकोर रचना के भीतर वृत्त में बिन्दु अवस्थित है। केन्द्रस्थ बिन्दु सर्वानन्दमय ज्ञानशक्ति, वाग्देवी सरस्वती का द्योतक है। बिन्दु की चक्राकार गति से वृत्त बनता है। इस चक्राकार गति को प्राकृतिक जगत में हम वायु की घूर्णन क्रिया के अभ्यन्तर देखते हैं, अतः वृत्त वायु और वाक्शक्ति का द्योतक है। जब कोई व्यक्ति लेखनी या किसी अन्य लेखन–सामग्री को आधार–सामग्री पर रखता है, उसी समय सर्वप्रथम बिन्दु का निर्माण हो जाता है। बिन्दु सभी प्रकार की गति को योग देता है और सभी प्रकार के आकार में प्रत्येक तत्व के भीतर अनुप्रविष्ट रहता है। इसीलिए बिन्दु अनुप्रवेश का चिन्ह या ज्ञान–जगत म अनुप्रवेश का द्योतक है। अनुप्रवेश के भाव को हम आकाश–तत्व से ग्रहण करते हैं। इसलिए बिन्दु आकाश–तत्व का भी द्योतक है। यन्त्र का सबिन्दु वृत्त एक चौकोर रचना में अवस्थित है। बहुभुज आकारों में सबसे कम भुजाओंवाला आकार चौक या चतुरस्र है।

अतः चौक या चतुरस्र विस्तार–भाव का द्योतक है, और विस्तार पृथ्वी का गुण है। इस प्रकार चतुरस्र या अन्य बहुभुज आकार पृथ्वी का द्योतक है।

यन्त्र में केन्द्रीय चतुरस्र की चारों दिशा में त्रिकोण है। ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण वाण या अग्निशिखा के जैसे शक्ति का संचार दिखलाता है और शिव का द्योतक है, जो समस्त तन्त्र का अध्यक्षीय देवता है। अवाङ्मुख त्रिकोण शक्ति और जल–तत्व का द्योतक है। मिथिलाक्षर का अ आ अं अः ऋ क ब र और व वामाभिमुख त्रिकोण से बना है। वामाभिमुख त्रिकोण ज्ञान और कल्पना–शक्ति का प्रतीक या सरस्वती का द्योतक है। सबिन्दु वृत्त और चतुरस्र की स्थापना एक चक्र पर हुई है। यह चक्र देवी के शाश्वत सर्वव्यापक प्रभाव का प्रतीक है ; देवी चक्ररूपा है।



यन्त्र के आठ कोण अष्टमातृका ––– ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा और महालक्ष्मी के स्थान है जो स्वस्तिक चिन्हों से प्रदर्शित किये गए है। ये आठ मातृकाएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पाप और पुण्य पर विजय प्रदात्रो हैं।

भारतीय तन्त्र साहित्य में वर्णमाला के रहस्य को दो तरह से समझाया गया है, हठयोग के षट्चक्र के माध्यम से और मातृकातन्त्र के माध्यम से। मातृकातन्त्र के अनुसार, मातृका की मौलि, मुख, दहिन नेत्र, बाम नेत्र, दहिन कर्ण, बाम कर्ण, दहिन नासापुट, बाम नासापुट, दहिन कपोल, बाम कपोल, उपरि अधर, निम्न अधर, उपरि दन्तपंक्ति, निम्न दन्तपंक्ति, तालु और जिह्वा में सोलह स्वर और मिश्रित वर्णों के वास कहे गए हैं ––– अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॡ लृ ए ऐ ओ औ अं और अः। षट्चक्र में पाँचवें चक्र को विशुद्धि चक्र कहा गया है जिसकी अवस्थिति कण्ठ–प्रदेश में होती है। इस चक्र के सोलह दलवाले कमल पर उपर्युक्त सोलह वर्णों का वास कहा गया है। श्रीमिथिलाक्षर यन्त्र में दोनों मतों का समन्वय हुआ है और इसीलिए चक्र के शीष भाग में अवस्थित सोलह मणिपद्मों में सोलहों वर्णों की अवस्थिति दिखलायी गयी है। शष क से ज्ञ तक के छत्तीस वर्ण यन्त्र के आभ्यान्तरिक भाग में अवस्थित होते हैं। इस यन्त्र का मन्त्र "ऊँ ऐं सरस्वत्यै नमः" है ; 'ऐं' सरस्वती का बीज–मन्त्र है।

सन्दर्भ–स्रोत

1. The Earth Mother : Pupul Jayakar;
2. The Art of Mithila : Yves Vequad;
3. History of Mithila : Upendra Thakur;
4. Indian Folk Art : Heinz Mode;
5. Yogini : Cult And Temples : Vidya Dehejia;
6. Shakti And Shakta : Sir John Woodroffe;
7. Kali for Women : 1987 : Kolam art by Chandralekha;
8. Art of Tibet : Robert E. Fisher;
9. The Ten Great Cosmic Powers : S. Shankarnarayanan;

10 विद्यापति पदावली – संकलन, बेनीपुरी;

11 मैथिली लोकगीत – संकलन, अणिमा सिंह;

12 ऋग्वेद; 13 अथर्ववेद; 14 रामायण – बाल्मीकि;

15 राधा कृष्ण चौधरी की अप्रकाशित पुस्तक (श्री गजेन्द्र ठाकुर के सौजन्य से);

16 हिन्दी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, भाग 5 में तंत्र साहित्य;

17 हजार हजार बाँहों वाली – नागार्जुन;

18 वृहदारण्यकोपनिषद – गीताप्रेस, गोरखपुर;

19 मध्यकालीन पूर्वाचलक वैष्णव साहित्य – राजेश्वर झा;

20 सस्कार रत्नावली – उग्र नारायण लाल (बरहेता);

21 कल्याण (शक्ति अंक) – गीता प्रेस, गोरखपुर;

22 आगम और तंत्र – ब्रजबिहारी निगम;

23 पण्डित शक्ति नन्दन दास की पाण्डुलिपि।



प्रकाशक
कला संजीवनी

₹ 700/-